आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ

आधुनिकता और समकालीन रचनासंदर्भ

डॉ० नरेन्द्र मोहन

आदर्श साहित्य प्रकाशन
[illegible] वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली-31

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य प्रकाशन
वेस्ट सीलमपुर दिल्ली-३१

प्रथम संस्करण १९७३

मूल्य :
पन्द्रह रुपये मात्र

मुद्रक : कुमार ब्रादर्स, प्रिंटिंग प्रेस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

ADHUNIKTA AUR SAMKALEEN RACHNA SANDRAB
by Dr. NARENDRA MOHAN
Rs 15/-

डॉ० इन्द्रनाथ मदान को



आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ

अनुक्रम

प्रस्तावना

आधुनिकता कोई निरपेक्ष धारणा या निरकुश सिद्धात नही है। यह गतिशील आधुनिक स्थिति है जिसका स्वभाव ठहरना नही, निरन्तर बदलना है। काल धारणा से मुक्त यह कोई सनातन क्रिया नही, आधुनिक युग की गतिशील प्रक्रिया है। आधुनिकता इसी प्रक्रिया से बनी मान सिकता है। इस मे मानव स्थितियो का यथार्थ है तो सघर्ष और विद्रोह का सकल्प भी है आत्मनिष्ठता है तो सामाजिक यथार्थ भी। इस मनो-दृष्टि ने आधुनिक तथा समकालीन रचना के बोध और सवेदना की एक अलग पहचान बनायी है और इसे एक अद्वितीय विशिष्टता दी है।

हिन्दी मे आधुनिकता का चितन, विशेष रूप से, समकालीन रचना-सदर्भों मे हुआ है। इस से पहले इस प्रकार के चितन की गु जाइश कम थी क्योकि आधुनिक-बोध से सम्पन्न कृतियाँ (कविता, कहानी, उपन्यास नाटक से सम्बद्ध) बहुत कम लिखी गई थी। छायावाद से पूर्व रचित साहित्य मे आधुनिकता पृष्ठभूमि मे पडी है और मध्यकालीनता का पलडा भारी है। आधुनिकता जितनी भाषा, छन्द और रूपाकार मे व्यक्त हुई है उतनी जीवन दृष्टि या रचना-दृष्टि मे नही। भारतेन्दु काल से आधुनिक साहित्य का सूत्रपात मानने के पीछे आधुनिकता का तकाजा उतना नही है जितना नयी जागरूकता और आधुनिक अभिरुचि को रेखाकित करना। यह जागरूकता और अभिरुचि आधुनिकता की प्राथमिक हलचल है जो भारतेन्दुकालीन और द्विवेदीकालीन कविता और कथा-साहित्य मे सामाजिक समस्याओ के चित्रण और समाधान तथा घटनाओ के पुनर्सयोजन के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। इस साहित्य मे घटनाओ और स्थितियो के प्रति आधुनिक ढग की प्रतिक्रियाओ का अभाव है। प्रारभिक दौर की यह आधुनिकता, असल मे, आधुनिक जागरूकता की सूचक है जो छायावाद मे द्वद्वात्मक रूप ले लेती है। मध्यकालीनता के आधुनिकता मे सक्रमण से जो द्वद्वपूर्ण स्थितियाँ और मन स्थितियाँ निर्मित हुईं, उन्ही का

चित्रण छायावादी कविता और गद्य में हुआ है। इस से मध्यकालीन-बोध और आधुनिक-बोध का द्वंद्व उभर कर सामने आया है। एक ओर परम्परा का उत्कट मोह है तो दूसरी ओर आधुनिकता का तीव्र आकर्षण। यह आधुनिकता के स्वीकार और अस्वीकार की दुविधाग्रस्त मन स्थिति है। यह मन स्थिति प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की कविताओं के संपूर्ण रचना-विधान में गुथी हुई है। उस समय के कथा-साहित्य और नाटक में भी यह मन स्थिति आदर्श और यथार्थ के द्वंद्व के रूप में अभिव्यक्त हुई है। प्रेमचन्द के उपन्यासों-कहानियों में तथा प्रसाद के नाटकों में इसे देखा जा सकता है। आगे चलकर 'अज्ञेय' का उपन्यास शेखर एक जीवनी और भुवनेश्वर का नाटक तांबे के कीड़े आधुनिकता के ठेठ रूप को सामने लाते हैं। द्वंद्व और दुविधा का रूप यहां बदला हुआ है—विघटित स्थितियों तथा मूल्य संकट से जुड़ा हुआ है। इसे प्रयोगशील कविता, नयी कविता, नयी कहानी और नये उपन्यास में भी देखा जा सकता है। इन में आधुनिकता के विविध पक्षों और रूपों का अनेकमुखी विकास हुआ है। आधुनिकता का एक रूप अगर आत्मनिष्ठ और आत्मकेन्द्रित है तो दूसरा समाजधर्मी और प्रगतिशील। इन दोनों के तनाव का चित्रण भी समकालीन साहित्य में है और दोनों में संतुलन की खोज भी। सन् साठ के बाद के साहित्य में जटिल बद्धमूल मन स्थिति, मानव नियति और स्थिति का एहसास है तो मानवीय-संघर्ष, विद्रोह, आक्रोश और संकल्प का चित्रण भी, और रोमैंटिक मुद्राएँ हैं तो एक विस्फारित तनावपूर्ण मुहावरा भी। बावजूद इसके, समकालीन हिन्दी रचना आधुनिक-बोध या आधुनिकता का विशिष्ट संदर्भ बनी है और इस ने नई करवट लेते हुए आधुनिक मनुष्य का साक्ष्य उपस्थित किया है।

आधुनिक लेखक किसे मानें ? क्या उसे जो पूरी तरह से आज से जुड़ा है या कल, आज और कल से ? क्या उसे जो यथार्थवादी है, बिम्बवादी है, प्रतीकवादी है ? क्या उसे जिसका मुहावरा तेज-तर्रार और तनावपूर्ण है या उसे जिस का मुहावरा सीधा-सपाट और ठंडा है ? आज के दौर में ऐसे लेखक भी हैं जो न यथार्थवादी दिखते हैं, न बिम्बवादी और न प्रतीकवादी ; न आधुनिक लगते हैं न समकालीन। आधुनिकता का अध्ययन करते हुए इन्हें कहां रखा जाए ? आधुनिक काव्य प्रवृत्ति के साथ इन की संगति कैसे बैठायी जाए ? ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। इस संबंध में इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आधुनिक होना आज का या एक साथ कल, आज और कल का होना

नही है। आधुनिक बनने के ये दोनो रास्ते लेखक को उत्तेजक या चालू मुहावरो की ओर ले जाते हैं जो आधुनिकता के विरुद्ध जाना है। आधुनिक को किसी सकीर्ण या कट्टर अर्थ मे यथार्थवादी कहना भी उतना ही असगत है जितना उसे प्रतीकवादी या बिम्बवादी कहना। जहाँ तक मुहावरे का सवाल है यह आक्रामक भी हो सकता है और उद्वेगहीन भी, सीधा सपाट भी हो सकता है और बिम्बात्मक भी, देखना सिर्फ यह है कि वह रचनागत सवेदना के उल्ट न पडता हो या उसे झूठा सिद्ध न करता हो। ऊपर से आधुनिक और समसामयिक दिखने पर भी, हो सकता है कोई लेखक आधुनिक न हो और रचना की ऊपरी परत पर आधुनिक न दिखता हुआ भी कोई लेखक आधुनिक हो सकता है।

पश्चिम मे आधुनिकता-आन्दोलन के पतन (?) को लक्षित करके कुछ लोगो का समकालीन हिन्दी साहित्य में भी इस के पतन के लक्षण दिखने लग है। ऐसे लेखक आधुनिकता को आधुनिकतावाद के रूप मे ग्रहण करते है और उस की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो को आधुनिक-बोध का चरम बिन्दु मान लेते है। पश्चिम मे आधुनिकता की मौजूदा स्थिति के आधार पर यहा की आधुनिकता के सबध मे कोई निर्णय नही लिया जा सकता। तथ्य यह है कि आधुनिक हिन्दी रचना के सदर्भ मे आधुनिक-बोध के विकास की सभावनाएँ अभी अनन्त हैं।

आधुनिकता ने आधुनिक हिन्दी रचना के मूल्याकन के लिए परम्परागत समीक्षा-मानो को चुनौती दी है और नए समीक्षा-मान की तलाश को उकसाया है। पर, इसे आधुनिक रचना का प्रतिमान नहीं माना जा सकता। यह न स्वय मे कृति का मूल्य है न मान। यह जरूर है कि आधुनिक रचना के समानान्तर नये समीक्षा-मान की खोज के सिलसिले मे आधुनिकता के औजारो से लैस होना जरूरी है।

इस पुस्तक मे आधुनिकता सबधी किसी सैद्धातिक-दार्शनिक चर्चा मे उलझे बगैर, आधुनिक मानसिकता स जुडे अनक पक्षो को, समकालीन रचना-सन्दर्भों मे, समझने-पहचानने का प्रयास किया गया है। यह समकालीन परिदृश्य को आधुनिक दृष्टि से देखने का प्रयास है। यहा समकालीन कविता, कहानी, और उपन्यास पर मेरे कुछ लेख और समीक्षाएँ सकलित हैं जिन्हे मैंने आधुनिक विचार की पृष्ठभूमि मे, समय-समय पर लिखा है। इस ढग की पुस्तक मे नए समकालीन नाटक की भी चर्चा होनी चाहिए थी पर कुछेक सीमाओ के कारण नाटक की नयी प्रवृत्ति पर इस मे विचार नही हो सका है। इन लेखो और

समीक्षाओ मे आधुनिकता को विषय या थीम के तौर पर नही, परिप्रेक्ष्य के रूप मे ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मे सकलित लेखो-समीक्षाओ के सबध मे विद्वान्-मित्रो से बराबर विचार विमर्श होता रहा है। उन के सुझाव मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान रहे हैं। इस सबध मे मैं डॉ० महीपसिह, डॉ० रमेश कुतल मेघ, डॉ० रामदरश मिश्र, श्री देवेन्द्र इस्सर, श्री राजीव सक्सेना, डॉ० हरदयाल, डॉ० विनय और श्री सुरेन्द्र वाहूरी के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ।

श्री गुरु तेग़बहादुर खालसा कालेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली

नरेन्द्र मोहन

आधुनिकता
की
भूमिका

आधुनिकता की भूमिका

आधुनिकता के संबंध में अन्तिम रूप से कुछ तय कर पाना, निर्णय देना या निष्कर्ष निकालना कठिन है। इसके नित्य क्रियाशील और गतिमान रूप को पकड़ पाना आसान नहीं। इसकी सतत गतिशीलता इसे मायावी बना देती है। एक विशेष प्रेक्ष्य-बिन्दु से देखने पर लग सकता है कि इसे पा लिया पर दूसरे क्षण, किसी अन्य कोण से देखने पर इस की एक सर्वथा भिन्न तस्वीर सामने आ सकती है। असल में, इस की गति को पकड़कर यानी इस की गति के समानान्तर चल कर ही इस तक पहुँचा जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि आधुनिकता के प्रति एक खुला दृष्टिकोण अपनाया जाए।

आधुनिकता का प्रथम विस्फोट धर्म और अध्यात्म के क्षेत्रों में हुआ था जो आधुनिकता को समझने में आज भी सहायक हो सकता है। पर, इस अर्थ-सन्दर्भ तक आधुनिकता को सीमित नहीं किया जा सकता, भले ही यह आधुनिकता के लिए आवश्यक संदर्भ और पीठिका है। यह सही है कि शुरू-शुरू में धर्म और अध्यात्म से इस की सीधी टकराहट हुई थी। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित और परिचालित होने के कारण आधुनिकता ने धर्म और अध्यात्म की तानाशाही को जबरदस्त चुनौती दी थी तथा इन से जुड़ी स्वीकृत मान्यताओं—मर्यादाओं के आगे प्रश्न-चिह्न लगाने शुरू किये थे। आस्था केन्द्रित दृष्टि के स्थान पर विज्ञान-सम्मत तर्क-दृष्टि का महत्त्व बढ़ जाने से धर्म और अध्यात्म निर्भर मध्यकालीन जीवन-दृष्टि (और उससे जुड़ा बोध) उत्तरोत्तर अप्रासंगिक होता गया।

आधुनिकता की प्रकृति मूल रूप म इसी तर्कशीलता या प्रश्न-चिह्न की निरन्तरता (डॉ० इन्द्रनाथ मदान) स बनी है जिसके पीछे वैज्ञानिक दृष्टि है। प्रश्न-चिन्ह लगाने की इस प्रवृत्ति ने चिंतन की जड प्रणालियो को तोडा है। इससे आधुनिक मनुष्य की नयी मानसिकता और बौद्धिक दृष्टि निर्मित हुई है जिसका परम्परा से कोई सीधा सबन्ध नही। आधुनिकता को एक सतत क्रियाशील प्रश्न (दूधनाथसिंह) के रूप मे उठाकर इसे अतीत से, मध्यकालीनता से जोडने का उदारवादी दृष्टिकोण भी अपनाया गया है और इसे समयहीन (टाइमलेस) और शाश्वत भी माना गया है। यह मूल रूप में एक भ्रामक दृष्टिकोण है। 'एक सतत क्रियाशील प्रश्न' के रूप म भी आधुनिकता आधुनिक युग-सदर्भ की ही देन है। इस मे स्वीकृत मूल्यो, मान्यताओ और धारणाओ का विरोध है और अस्वीकार को विचार और सृजन का आधार बनाया गया है। अस्वीकार की इस दृष्टि से परम्परा से अलग हटने का प्रारम्भ हुआ है। विपिन कुमार अग्रवाल ने ऐतिहासिक अध्ययन की पूर्णता सिद्ध करते हुए आधुनिकता के दोहरे रूप को स्पष्ट किया है, 'आधुनिक का एक पहलू वह है जो वह बीते हुए से शेयर करता है और दूसरा वह जो उसकी अपनी देन है, उसका अपना विशेष गुण है।' आधुनिक रचना के विशेष गुण ही आधुनिकता को निर्धारित करते हैं, परम्परा तो उसके लिए खाद बनती रहती है।

आधुनिकता को इतिहासवाद की दृष्टि से भी देखने की कोशिश, इधर, हुई है जिससे आधुनिकता एक अमूर्त सार्वकालिक धारणा बनकर रह गयी है इस दृष्टि से आधुनिकता का काल निरपेक्ष, कालातीत और कालजयी बना देने का उपक्रम किया गया है। तब आधुनिक होना आधुनिक मनुष्य का ही एकाधिकार नहीं रह जाता क्योंकि आधुनिक मनुष्य (अर्जुन, कौटिल्य, कबीर) भी हुए हैं और इस के पहले भी आधुनिक युगों की खोज हुई है (डा० रमेश कुन्तल मेघ)। इतिहासवाद के इस *चिन्तन के आधार पर आधुनिकता का 'आ कल था, आज है और कल भी रहेगा'* के प्रभाव म सनातन मान लिया जाता है। आधुनिक और आधुनिकता के सबध म यह एक विराट सरलीकरण है और आधुनिकता क विशिष्ट गुणो की बलि चढा देने के बराबर है।

आधुनिकता म अनेक सामाजिक-दार्शनिक पहलू और प्रतिपत्तियाँ विद्यमान हैं। इन का परस्पर विरोध आधुनिक रचना म कई रूपों तथा विभिन्न स्तरो पर प्रतिफलित होता है। इसम एक ओर वैयक्तिकता है, दूसरी ओर सामाजिकता, एक ओर मानव नियति का एहसास है, दूसरी ओर आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति, एक ओर जटिल मानव प्रकृति है, दूसरी ओर गहन मानव स्थिति। इसे कहीं समसामयिक बोध माना गया है, कहीं समसामयिकता का अतिक्रमण करने वाली मूल्य-दृष्टि, कहीं इसे एक काल-खड मे व्याप्त बोध भी स्वीकृत माना गया है, कहीं आधुनिकता और समसामयिकता का अन्तर ही गडबडा गया है। यह आधुनिक प्रकृति की द्वद्वात्मक

स्थिति को सूचित करता है जिससे अटकलें लगाने की छूट ले ली जाती है। इन धारणाओं से आधुनिकता का स्वरूप स्पष्ट होने की बजाय उलझता गया है।

आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी-बंधायी व्यवस्था या मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। इसे चरम या निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। यह मुख्य रूप से एक ऐसी मानसिकता है जो किसी एक मूल्य, धारणा या सिद्धांत को स्वीकारने से पूर्व, उसे जांचने पड़तालने पर बल देती है। यह मानसिकता मानव स्वभाव की जटिलता और उस के कारण बनते-बिगड़ते सम्बन्धों और संवेदनाओं से जुड़ी है। इस के कई शेड्स हैं—कहीं यह मानव प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों को, नवीन अभिरुचियों को रेखांकित करने का स्तर है, जहां परम्परा से सहयोग की स्थिति रहती है, तो कहीं यह मानव प्रकृति के मौलिक बदलाव का स्तर है, जहां परम्परा को पूर्णतः नकारा जाता है।

आधुनिकता को नितान्त आत्मनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ माना जाता है और इसे आधुनिकता की एक मुख्य विशेषता के रूप में प्रतिपादित भी किया जाता है। आधुनिकता की इस धारणा से प्रेरित साहित्य में व्यक्ति मन का विश्लेषण अधिक रहता है। लेखक बाहरी यथार्थ से जुड़ी हुई बड़ी-बड़ी घटनाओं और प्रसंगों का चित्रण या वर्णन नहीं करता बल्कि उस यथार्थ से उस के अन्तर्मन में जो हलचल हुई, उस का वह चित्र खींच देता है। यह आधुनिक-बोध का आत्मनिष्ठ पहलू है जिसे मार्क्सवादी चिन्तक-आलोचक परम्परा-विरोधी, इतिहास विरोधी और समाज-विरोधी करार देते हैं और इस के लिए वे कामू और काफ्का की कृतियों में से उदाहरण जुटा देते हैं। यह आधुनिक आत्मनिष्ठता को पूर्वाग्रहों और मताग्रहों के बल पर आंकने का परिणाम है। सच्चाई यह है कि यह आत्मनिष्ठता आत्मिक स्तर पर इतिहास-बोध की समवर्ती स्थिति है। इस में बाहरी यथार्थ का संदर्भ प्रत्यक्ष न हो कर, रचना में घुला-मिला रहता है। आधुनिक लेखकों ने जिन मानव-स्थितियों की ओर संकेत किया है वे ऐसी हैं जो घोर वैयक्तिक सन्दर्भों को भी गहराती हैं और सामाजिक सन्दर्भों को भी। मार्क्सवादी आलोचकों के समान मानव-स्थितियों के उल्लेख मात्र से परेशान होने की जरूरत नहीं और न अस्तित्ववादी चिन्तकों की तरह सामाजिक यथार्थ से पीछा छुडाने या कतराने की जरूरत है।

आधुनिकता को अस्तित्ववादी अर्थ में ग्रहण करने से जहां एक ओर भ्रान्तियां फैली हैं वहां इसे मार्क्सवादी अर्थ में ग्रहण करने से, मानवीय विचारों के समाजशास्त्रीय विकास से अन्तर्बद्ध करके देखने से आधुनिकता को एक चरम सूत्र और जड़ स्थिति बना दिया गया है। इस ढंग की कोई भी 'वादी' व्याख्या इस के बहुस्तरीय और बहुआयामीय चेहरे की पहचान नहीं पाने देती। आधुनिकता जैसी संश्लिष्ट, व्यापक और विकासमान प्रक्रिया की समझ के लिए एकपक्षीय परिभाषाओं तथा व्याख्याओं के घेरे से बाहर आकर इस के प्रति खुली मानसिक दृष्टि अपनाना बहुत जरूरी है। यह

एक ऐसी दृष्टि है जो अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों तथा संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व से अपना गहरा सरोकार बनाए है। इस दृष्टि के अन्तर्गत जहां एक ओर मानव व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता समाहित है तो दूसरी ओर मानव-मुक्ति की गतिशील धारणा भी। इसमें एक ओर स्वच्छन्द रूप से आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता की विद्यमानता है तो दूसरी ओर मानव-मुक्ति की कामना की सक्रियता भी। आधुनिकता की यह धारणा एक ओर सामाजिक दर्शन से, सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है तो दूसरी ओर अस्तित्व दर्शन से, अस्तित्वगत स्थितियों के यथार्थ से। आधुनिकता के अन्तर्गत जिस यथार्थ की स्वीकृति है, उस का स्वरूप बड़ा जटिल और पेचीदा है। विभिन्न विचार-धाराएँ इस यथार्थ को समझने में सहायक हो सकती हैं, लेकिन, किसी एक दर्शन या विचार-धारा के बल पर इस यथार्थ को पूरा-पूरा पकड़ पाना कठिन है। आधुनिकता का तकाज़ा है कि वादों के दायरों से बाहर निकल कर इस जटिल यथार्थ और उलझी हुई मानव प्रकृति को समझा जाए और उस की पहचान पायी जाए। केवल व्यक्ति-बद्ध यथार्थ या अस्तित्ववादी ढंग का यथार्थ आधुनिकता का पर्याय नहीं है। इसी तरह केवल सामाजिक यथार्थ या मानव मुक्ति की किसी प्रगतिवादी या अन्य किसी 'वादी' धारणा तक आधुनिकता को सीमित नहीं किया जा सकता। आधुनिकता यथार्थ के इन दो पहलूओं से ही नहीं, अन्य कई पहलूओं से भी जुड़ी है। एक पहलू की तुलना में दूसरे पहलू को तरजीह देना आधुनिक विचार की नींव को ही ढहा देना है।

आधुनिकता को खंडों में विभाजित करके नहीं समझा जा सकता। एक ढंग का आधुनिक-बोध मानवीकृत है और दूसरे ढंग का अवमानवीकृत, यह वर्गीकरण आरोपित दृष्टि का परिणाम है। यथार्थ या अयथार्थ, वास्तविक या अवास्तविक, सही या गलत के लेबल आधुनिकता पर नहीं चिपकाए जा सकते। यह कोई ठोस अचल पदार्थ नहीं जिसे टुकड़ों में बांटा जा सके। यह एक संश्लिष्ट व्यापार है जिस में अनेक गुण, अनेक विशेषताएँ, अनेक प्रवृत्तियाँ विरोधात्मक स्थिति में, एक साथ विद्यमान रह सकती हैं। यह दावा करना कि एक ढंग की विद्यमानता आधुनिकता है, दूसरे ढंग की नहीं, आधुनिक रचना की जटिल सृजन प्रकृति को समझने से इन्कार करना है और आधुनिकता को संकीर्ण मतवाद के शिकंजे में कसना है।

इधर एक बड़े पैमाने पर नगरों—महानगरों का आधुनिकीकरण हुआ है। कहना चाहें तो इसे आधुनिकता का परिवेश या संदर्भ कह सकते हैं। इसका सर्जक, कलाकार के साथ एक अटूट रिश्ता है। लेखक की सर्जनात्मक चेतना पर जाने-अनजाने इस का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव जितना सघन और गहन होगा और उस की अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म और अमूर्त-कलात्मक होगी उतनी ही वह रचना आधुनिक-बोध के संप्रेषण में सफल होगी। बाह्य परिवेश के प्रति स्थूल ढंग की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली या उसका रेखांकन खींचने वाली रचनाएं आधुनिक-बोध

से कोसों दूर रहती हैं। आधुनिक लेखक परिवेशगत यथार्थ को अपने भीतर रूपान्तरित और अमूर्त करता हुआ उसे सृजित करता है। बाह्य और भौतिक फैलाव को भीतर ले जा कर अभिव्यक्त करने की यही रचनात्मक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत अद्वितीय आधुनिक स्थितियों का एहसास रचना के हर स्तर (उस की संवेदना, रूप बंध, और मुहावरे) पर होना है। ये स्थितियाँ मानव स्थितियों से, व्यक्ति की स्वातंत्र्य कामना से, मानव-मुक्ति की आकांक्षाओं से, अपनी अस्मिता को पहचानने की छटपटाहट से सम्बद्ध हो कर विविध रूपों में अभिव्यक्त होती हैं।

आधुनिकता का प्रश्न कृतियों के रूप-विधान, भाषा और शिल्प से जुड़ा हुआ है—पर एक हद तक ही। कवि या कथाकार की बदली हुई दृष्टि और संवेदना को पुराने और परम्परागत ढाँचों में खपाने की कोशिश या इस स्तर पर पुराने और नए में समन्वय बैठाने से रचना के चौपट हो जाने का खतरा बराबर बना रहता है। पुराने और क्लासिकल काव्य रूपों (महाकाव्य, खंडकाव्य आदि) से एक खास ढंग की सुनिश्चित प्रतिक्रियाएँ ही उग पाती हैं। आधुनिकता का इन रूढ़ *प्रतिक्रियाओं* से कोई वास्ता नहीं है। आधुनिकता के अन्तर्गत नियत और निर्धारित तत्त्वों को नकारा जाता है। इसी लिए ये काव्य रूप आधुनिक रचना के लिए इतने काम के नहीं रह गये हैं। इन रूपाकारों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति का प्रयास स्वयं में एक विरोधाभास है। आधुनिक संवेदना के समानान्तर या तो परम्परागत रूपाकारों का ध्वस्त होना चाहिए या नए काव्य-रूपों, रूप-बंधों का अन्वेषण। आधुनिकता की निरन्तर विकासमान प्रकृति में नए रूपों की खोज का सिलसिला जारी रहता है। यह बात भाषा और शिल्प के बारे में भी कही जा सकती है। आधुनिक चेतना अपने लिए नयी भाषा और नए शिल्प की तलाश करती है। भाषा और शिल्प का पुराना ढर्रा आधुनिक के सम्प्रेषण में एक बहुत बड़ी बाधा है। आधुनिकता के दबाव से रचनात्मक भाषा का बुरी तरह से उलट-पुलट जाना स्वाभाविक है। आधुनिक रचना में भाषा का नए सिरे से सर्जनात्मक प्रयोग रहता है और भाषा शिल्प-साधनों की बैसाखी के सहारे नहीं बल्कि रचना की भीतरी तहों में रसी-बसी व्यवहार करती है। पर, आधुनिकता के लिए रूप-बंध, भाषा और शिल्प का अतिरिक्त आग्रह बेकार है। इस से आधुनिकता को एक अतिवादी और ऊट-पटांग हद तक भी ले जाया गया है जिस से आधुनिकता खंडित हुई है और इस के संबंध में भ्रान्तियाँ फैली हैं। नए-पन की भोंक में एक गढ़ा हुआ रचना-तंत्र, चमत्कारी शिल्प, चालू मुहावरों वाली उत्तेजक भाषा, साहित्यिकता को भले सूचित करती हों, आधुनिकता से इन का दूर का भी कोई रिश्ता नहीं है। अगर रचना का भीतरी मिजाज बदला हुआ नहीं है तो रूप-विधान संबंधी छुटपुट परिवर्तन, पुराने प्रतीकों के बदले नए प्रतीकों का संयोजन, और शिल्पगत चमत्कारों का कोई महत्त्व नहीं। इसीलिए, आधुनिकता के संदर्भ में रूप, शिल्प और भाषा की बात एक हद तक ही की जा सकती है, उसके बाद नहीं।

आधुनिकता समकालीनता का पर्याय नहीं है। समकालीन संदर्भ को लेकर लिखी गई हर रचना आधुनिक हो ही, यह जरूरी नहीं है। समकालीन स्थितियों के प्रति मात्र जागरूकता से या उनके सहज चित्रण से या औसत स्थितियों को शब्दाडंबर में रख देने से रचना आधुनिक नहीं हो जाती। इस से यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि आधुनिकता का समकालीनता से कोई संबंध नहीं। आधुनिक बोध से संयुक्त हर रचना समकालीन सन्दर्भों में अनिवार्यतः जुड़ी रहती है। पर, समकालीन संदर्भों तक सीमित रह जाने वाली रचना आधुनिक नहीं मानी जा सकती। समकालीन लेखक एक अर्थ में पक्षधर होता है। वह किन्हीं स्थितियों और दृष्टियों का पक्षपातपूर्ण चित्रण और वर्णन करने लग जाता है। केवल समकालीनता पर टिकी लेखकीय दृष्टि के लिए एकांगी हो जाने का खतरा बना रहता है जिस से जीवन को उस की समग्रता में देख पाना संभव नहीं रह जाता। आधुनिक लेखक समकालीनता का अतिक्रमण करता है और उस की नयी व्याख्या करता है। आधुनिक लेखक समकालीन स्थितियों को बोध के स्तर पर ग्रहण करता है। वह समसामयिक आग्रहों से बचता हुआ आधुनिक जिन्दगी को उस की पूर्णता में देखने की कोशिश करता है। समकालीन लेखक 'आज' की तात्कालिकता से परिचालित होता है जब कि आधुनिक लेखक समकालीन परिदृश्य के प्रति सजग और संवेदनशील होता हुआ भी, समकालीन मूल्यों को चरम और अन्तिम नहीं मानता।

आधुनिकता को ध्यान में रखें तो कई प्रकार के लेखक रचना-कर्म में प्रवृत्त दीखते हैं। एक वे जो व्यक्तिबद्ध यथार्थ के हामी हैं और सामाजिक स्थिति या प्रगति से कहीं जुड़े हुए महसूस नहीं करते। सामाजिक प्रतिबद्धता में उन का विश्वास नहीं। उनके लिए व्यक्ति सर्वोपरि इकाई है। दूसरे लेखक वे हैं जो आधुनिकता को सामाजिक यथार्थ या सामाजिक दर्शन के रूप में ग्रहण करते हैं और जिन का विश्वास है कि विज्ञान पुरानी दकियानूस मान्यताओं की जगह एक नए वैचारिक उन्मेष को जन्म दे सकता है। एक अन्य प्रकार के लेखक वे हैं जिन के लिए आधुनिकता न व्यक्तिबद्धता है न समाजबद्धता। वे इन दोनों स्थितियों और दृष्टियों के तनाव को भोगते हैं या उन में सामंजस्य की खोज करते हैं। हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो हर नए मुहावरे को लेकर उड़ते हैं, नयी शैली का चमत्कार दिखाते हैं, नए शिल्प या शिल्पहीनता का आभास देते हैं, तो भी जिन्हें आधुनिक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक जीवन के बदलते हुए रूपों से इन का परिचय तो रहता है और ये आधुनिक दिखने के लिए रूप-रचना और मुहावरे में तेजी से परिवर्तन भी करते चलते हैं पर, बावजूद इस के इन की रचना का आधुनिकता या आधुनिक मनुष्य की समस्याओं से कोई सरोकार नहीं होता।

साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता निश्चय ही, एक जटिल समस्या है जिसकी न तो सीधी सरल व्याख्या की जा सकती है न कोई हल दिया जा सकता है। यह

समस्या रचनाकार के सपूर्ण व्यक्तित्व और उस की रचना-प्रक्रिया से जुडी है जो अपने ग्राप म कोई कम उलझा हुआ विषय नहीं है। लेखक के सामने बहुत-सी समसामयिक स्थितियाँ और धारणाएँ रह सकती है—ऐसी स्थितियाँ भी जो एक दूसरे के विरुद्ध पडती हो और जिन मे ताल-मेल बैठाना कठिन हो। ऐसे म, लेखक का सर्जक व्यक्तित्व और उस की रचना-प्रक्रिया निर्धारक तत्व सिद्ध होते हैं जो उसे यह पहचान देते है कि वह स्थितियो का चुनाव और प्रस्तुतीकरण कैसे करे? ग्राधुनिकता रचना से ग्रलग कोई ऐसी चीज़ नही जिसे ओढने स काम चल सके। इस की सार्थकता रचना मे चारितार्थ होन मे है।

समकालीन
रचना-संदर्भ

१

कविता

प्रयोगशील कविता :
तात्त्विक और रचनात्मक धरातल

छायावाद का विरोध तीन स्तरों पर हुआ था—वैयक्तिक स्तर पर, प्रगतिवादी स्तर पर और प्रयोगवादी स्तर पर। आगे चलकर इन्हें ही व्यक्तिपरक काव्य-धारा, प्रगतिवादी काव्य-धारा और प्रयोगवादी काव्य धारा की संज्ञाओं से अभिहित किया गया। ये तीनों काव्य-धाराएँ एक-दूसरे के समानान्तर उठी थीं और काफी दूर तक एक-दूसरे को काटती-पीटती और अन्तर-रूपान्तरित करती हुई चलती रही थीं। इनमें जहाँ छायावाद की अतीन्द्रियता, भावुकता, आदर्शवाद और कल्पनातिरेक का विरोध और निषेध किया गया था, वहाँ इनमें जीवन-यथार्थ को अपने अपने ढंग से व्यक्त करने की छटपटाहट भी थी। इन तीनों काव्य धाराओं में छायावाद के विरोध का स्तर और यथार्थ की परिकल्पना भिन्न भिन्न थी। ये काव्य धाराएँ मात्र प्रतिक्रियाजन्य नहीं थीं बल्कि अपने समय से गहरे से जुड़ी हुई थीं। यह समय 'संशय', 'आत्म अन्वेषण' और कुछ हद तक 'अस्वीकार' का था। युग के इस संदर्भ में छायावादी मूल्यों की 'मिथ' खंडित हो चुकी थी और एक मूल्यगत संकट गहरा रहा था। इस संकट को स्वयं छायावादी कवि भी अनदेखा नहीं कर सके थे।

प्रयोगवाद का प्रवर्त्तन सन् १९४३ में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित तार सप्तक के प्रकाशन से माना जाता है। पर, चूँकि किसी काव्य-धारा या काव्य-प्रवृत्ति का आरम्भ आकस्मिक नहीं होता, अतः तार सप्तक की स्थिति और ऐतिहासिक देन को समझने के लिए सन् ३७-४३ के बीच

के पांच वर्षों के संक्रमण-काल को समझना बहुत जरूरी है। पंत ने जुलाई, १९३८ में रूपाभ के सम्पादकीय में लिखा था—"इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना-मूल हिल गये हैं—अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं चल सकती। उस की जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। " हमारा उद्देश्य उस इमारत में धूनियां लगाने का कदापि नहीं है, जिसका कि गिरना अवश्यभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना जिस का प्रादुर्भाव हो चुका है।" पंत के इस कथन से स्पष्ट है कि सन् ३७-३८ के आस-पास युगीन परिस्थितियां बदल चुकी थीं और एक नयी वास्तविकता का प्रादुर्भाव हो चुका था, जिसके रू-ब-रू उस समय का रचनाकार था। सन् ३७-३८ में ही कविता में परिवर्तन के संकेत मिलने शुरू हो गए थे। छायावादी कवि पंत और निराला पुरानी काव्य-रूढ़ियों को तोड़ कर, नए जीवन सत्य को वाणी देने का प्रयास कर रहे थे। इन के अतिरिक्त शमशेरबहादुर सिंह, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और नरेन्द्र शर्मा आदि कवि नए ढंग की यथार्थवादी रचनाएं लिख रहे थे। प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर और 'अज्ञेय' की कविताएं जो रूपाभ, उच्छृंखल, विशाल भारत और हंस में छपा करती थीं, एक भिन्न सौंदर्याभिरुचि का परिचय दे रही थीं। इन कविताओं में कहीं संशय था, कहीं अस्वीकार, कहीं कुंठा और कहीं संकट से कतरा कर बच निकलने वाला भावुक ढंग का पलायन। कवि की विज्ञानजन्य विवेक-दृष्टि अध्यात्म और दर्शन-निर्भर मध्यकालीन मूल्यों के सामने प्रश्न चिह्न तो लगाती थी, पर पिछले संस्कार भी उस पर हावी थे। आधुनिकता अपना मार्ग ढूंढ रही थी पर पुराने संस्कारों और मूल्यों के कारण वह अवरुद्ध हो जाती थी। कवि का आन्तरिक द्वंद्व आधुनिकता के चेहरे को साफ साफ उभरने नहीं देता था जिस से इसकी अभिव्यक्ति अधूरी रह जाती थी। निश्चय ही, यह प्रारम्भिक दौर की आधुनिकता थी जिसे 'अज्ञेय' ने प्रयोगधर्मिता से जोड़ कर, एक नया आयाम दिया। उन्होंने इस संक्रमण-काल में उदित कुछ महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रवृत्तियों को तार सप्तक में संकलित करने का ऐतिहासिक कार्य किया था।

सन् १९४३ में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित तार सप्तक में पहली बार तत्कालीन, नवीन काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या और सम्पादन का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। उन्होंने काव्य क्षेत्र में उदित नए क्षितिजों को तार सप्तक में बांधा और 'विवृति और पुरावृत्ति', नामक भूमिका द्वारा नयी काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या की। नयी काव्य-प्रवृत्तियों को संगठित रूप में प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयास था और इन्हें काव्य-धारा के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय, निश्चय ही, 'अज्ञेय' को है। इस के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं : "तार सप्तक में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक-दूसरे से परिचित हैं—बिना इस के इस ढंग का सहयोग कैसे होता ? किन्तु इस से

यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल तक पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"—— "काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले, वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं, दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं।"[1] 'अज्ञेय' के इस कथन से तीन बातों पर प्रकाश पड़ता है—एक, तार सप्तक के कवि किसी एक स्कूल से सम्बन्धित नहीं हैं, दूसरे, वे राहों के अन्वेषी हैं और काव्य के प्रति उन का दृष्टिकोण एक अन्वेषी का है, तीसरे, तार सप्तक की सभी कविताओं के प्रयोगशील होने का दावा नहीं है, दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। तार सप्तक की योजना का मूल सिद्धान्त ही यह था कि 'संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं।'[2] स्पष्ट है कि तार सप्तक में ऐसे कवि संकलित हैं जो कविता में नयी राहों अथवा नयी काव्य-शैलियों के अन्वेषण के पक्षधर हैं। 'ये सभी इस के लिए भी तैयार हैं कि तार सप्तक के पाठक वे ही रह जायें' क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।'[3] 'अज्ञेय' के इन कथनों के आधार पर ही तार सप्तक के कृतित्व को आलोचकों ने प्रयोगवाद की संज्ञा दे दी। यह सही है कि 'अज्ञेय' ने प्रयोग को वाद के रूप में प्रतिपादित नहीं किया था, पर उन के द्वारा प्रयुक्त 'प्रयोग', प्रयोगशील और 'अन्वेषी' शब्दों पर जो बल दिया गया था, उससे ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे प्रयोग को साध्य मान रहे हों। इन शब्दों के अतिरिक्त बल को रेखांकित करके ही तार सप्तक के कृतित्व को प्रयोगवाद की संज्ञा दे दी गयी। 'अज्ञेय' ने बाद में प्रतिवाद भी किया—"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है .... अतः हमें प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।"[4] पर इस प्रतिवाद के बावजूद प्रयोगवाद शब्द तार सप्तक से लेकर १९५० तक की कविता के लिए रूढ़ हो गया।

---

१. अज्ञेय . तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, 'विवृत्ति और पुरावृत्ति', पृ० १२

२ वही, पृ० ११

३. वही, पृ० १८

४. दूसरा सप्तक, पृ० ६

प्रश्न हो सकता है कि काव्य के स्तर पर 'प्रयोग' का क्या आशय है और काव्यगत प्रयोगों की क्या सार्थकता है ? काव्य-स्तर पर प्रयोग साधन ही होता है, साध्य नहीं। कवि अपने अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और इस प्रयास के दौरान वह अभिव्यंजना की पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर भाषा और शिल्प के क्षेत्र में नूतन प्रयोग करता है। 'अज्ञेय' ने भी दूसरे सप्तक की भूमिका में प्रयोग को दोहरा साधन माना है 'क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद हो सकता है।' इस कथन से स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' ने प्रयोग को साधन माना है और यह साधन वस्तु और शिल्प दोनों में ही फलप्रद हो सकता है। इस प्रकार प्रयोगों का वैशिष्ट्य तीन रूपों में हो सकता है नयी, विषय-वस्तु के रूप में जिस में 'नए सत्य की खोज' का प्रयास रहता है, दूसरे, शिल्प के रूप में जिस के अन्तर्गत नूतन उपमानों, बिम्बों और प्रतीकों का विधान रहता है, तीसरे, भाषा के रूप में अर्थात् भाषा के रूढ़ अर्थ को त्याग, उस में विशिष्ट अर्थ की प्रतिष्ठा की जाती है। प्रयोगों के इस वैशिष्ट्य को, प्रायः परम्परा की दुहाई देकर नकारा जाता है और कहा जाता है कि प्रयोग तो सभी कालों में हुआ करते हैं। पर लोग यह भूल जाते हैं कि 'परम्परा' कम से कम कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बांध कर रखी हुई चीज नहीं है जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। और यह भी कि पिछले कालों में हुए प्रयोगों और आज के प्रयोगों में 'परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा और आग्रह' का अन्तर है। इस अन्तर को लक्षित किए बिना इन प्रयोगों को नहीं समझा जा सकता।

प्रयोगवादी कवियों ने अपने प्रयोगों द्वारा पुरानी काव्य-रीतियों और रूढ़ियों को तोड़ कर, नयी और अनजानी राहों पर चलने के खतरे उठाए थे और कविता के स्तर पर प्रयोगों की सार्थकता और औचित्य प्रमाणित करने की कोशिश की थी। इस कोशिश में वे सर्वत्र सफल रहे हों, ऐसी बात नहीं। उनके प्रयोग कहीं-कहीं नितान्त वैयक्तिक, अनर्गल और हास्यास्पद प्रतीत होते हैं, पर उन की प्रयोगशील वृत्ति ने आधुनिकता-बोध की भूमिका निर्मित करने में महत्वपूर्ण योग दिया, इसमें सन्देह नहीं।

प्रयोगवाद की मुख्य और विशिष्ट प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए प्रयोगवाद के रचना संसार की चर्चा की जा सकती है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह कि यह कविता व्यक्ति-केन्द्रित है। अहं की प्रवृत्ति या आत्मपरकता प्रयोगवादी कविता के कवियों की मुख्य प्रवृत्ति है। यह 'व्यक्ति' छायावादी कविता के 'व्यक्ति' के समान वायवी और रहस्यात्मक न होकर जटिल और कुंठित है, छायावादी कविता के समान भावुक और कल्पनाशील न होकर मन की भीतरी तहों में विचरण करने वाला

बौद्धिक प्राणी है। इस कविता में व्यक्ति की अपनी इकाई और विशिष्टता है जैसे कि नदी की धारा में नदी के द्वीप

द्वीप हैं हम, नहीं है शाप
यह अपनी नियति है?
× × ×
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नव व्यक्तित्व का आधार,

(पूर्वा, पृ० २५१-५२)

व्यक्ति का यह वैशिष्ट्यपूर्ण रूप प्रयोगवादी कविता में अनेक स्तरों पर हुआ है। आत्मरति और अहं के रूप में इसे देखा जा सकता है। एक ओर 'अज्ञेय' कहते हैं

अहं! अन्तर्गुहावासी! स्वरति! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह?
जानता क्या नहीं, निज में बद्ध हो कर है नहीं निर्वाह?
× × ×
बना हूँ कर्ता, इसी से कहूँ, मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और उछाह

(पूर्वा, पृ० २००)

तो दूसरी ओर मुक्तिबोध अहं के एक अन्य स्तर क्षोभ का, जो सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ा है, उद्घाटन करते हैं

किन्तु आज लघु स्वार्थों में घुल, क्रन्दन विह्वल
अन्तर्मन यह टार रोड के अन्दर नीचे बहने वाली गटरों से भी
है अस्वच्छ अधिक
यह तेरी लघु विजय और लघु हार।
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय संसार
अहं भाव उत्तुंग हुआ तेरे मन में
जैसे घूरे पर उट्ठा है
धृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मत्त

(तार सप्तक, पृ० ५७)

अहं का यह स्वर व्यापक असन्तोष से सम्बद्ध है। अन्य कई स्थलों पर भी अहं को बृहत्तर सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने या उनके प्रति विसर्जित होने का भाव व्यक्त है:

यह दीप अकेला स्नेहभरा है गर्वभरा
मदमाता पर इस को भी पंक्ति को दे दो।

ये कवि जीवन यथार्थ से कटे हुए नहीं थे। यथार्थ से इन का पूरा सरोकार था (मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता)। अपने परिवेश के प्रति ये कवि अत्यधिक जागरूक और संवेदनशील थे। उनका सौंदर्य-बोध और उनकी संवेदना को

तत्कालीन भीषण और विषम परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। तभी तो उसे उज्ज्वल चांदनी वंचना लगती है

वंचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका-निशा की शांति है निस्सार
दूर वह सब शांति, वह सित भव्यता

(तार सप्तक, पृ० २८६)

'अज्ञेय' के शब्दों में कवि के लिए इस परिस्थिति में और भी कठिनाइयां हैं। 'एक मार्ग तो स्वप्न-सृष्टि का— दिवा स्वप्नों का है, उसे वह नहीं अपनाना चाहता। फिर वह क्या करे? यथार्थ दर्शन केवल कुंठा उत्पन्न करता है। वास्तव की बीभत्सता की कसौटी पर, चांदनी खोटी दीखती है। कवि अपनी काव्य-परम्परा का मूल्यांकन करता है और चारण-काल से लेकर छायावाद तक की कविता को तात्कालिक परिस्थिति अथवा जीवन-प्रणाली पर घटित करके समझ लेता है, किन्तु फिर भी जीवन के दबाव की अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।'

यह सही है कि तब इन कवियों को कोई भी रास्ता साफ नजर नहीं आ रहा था। मूल्यगत स्तर पर एक जबरदस्त विघटन था जिस से इन कवियों की मनःस्थिति दुविधाग्रस्त थी। एक ओर थे 'मुक्तिबोध' जो अपने काव्य को 'पथ ढूंढने वाले बेचैन-मन की अभिव्यक्ति' कहते थे तो दूसरी ओर थे भारतभूषण अग्रवाल जिनकी 'अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित' है

कौन सा पथ है?
'महाजन जिस ओर जायें'—शास्त्र हुंकारा
'अन्तरात्मा ले चले जिस ओर'—बोला न्याय-पंडित
'साथ आओ सर्व-साधारण जनों के'—क्रान्ति वाणी
पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न संबल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रान्ति-गति अनुसरण योग्या है न पद सामर्थ्य

(तार सप्तक, पृ० १०६)

यह अनिश्चय और संशय युग जनित है। प्रयोगवादी काव्य-बोध की यह मूल धुरी है। इस काव्य-धरातल पर इन कवियों ने नयी राहों और मूल्यों का संधान किया था। इसीलिए इस काव्य में एक ओर मोह-भंग है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण। इस काव्य में जो निराशा, हताशा और अवसाद दृष्टिगोचर होता है, वह व्यापक मोह-भंग की प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है। नेमिचन्द्र जैन की कविता 'व्यर्थ' में निराशा और हताशा बोध से सम्बद्ध मोह-भंग की पूरी प्रक्रिया मौजूद है:

छिन्न पथ प्रगम,
विपथ में हार जाता हूं भटककर मौन से,

बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे अमगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—
सहज अगारे
कि मानो दब गए हो धुएँ से
जैसे कि ठण्डी राख से

(तार सप्तक, पृ० ७८)

इस मोह-भंग की प्रक्रिया के साथ-साथ इस कविता में जीवन का अर्थ पाने की मूल्यान्वेषण की भी सहज जिज्ञासा है। इस सम्बन्ध में 'मुक्तिबोध' की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती है :

अर्थ खोजी-प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या ? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अर्थ क्या ? ललकार मेरी है प्रखर

(तार सप्तक, पृ० ५३)

प्रयोगवादी सौंदर्य-दृष्टि छायावादी सौंदर्य-दृष्टि से भिन्न थी। यह अतीन्द्रिय और वायवी न होकर ऐन्द्रिय, वस्तुगत और मूर्त थी। इस में कोमल और मधुर की ही नहीं, भदेस और अनगढ़ की भी अभिव्यक्ति थी। दरअसल, तत्कालीन मूल्यगत अराजकता मे रोमानी सौंदर्य-दृष्टि का चित्रण वायवी न होकर मासल और दैहिक हो गया था। प्रेम और सौंदर्य की इन परिकल्पनाओं पर फ्रायड और युग के मनोविश्लेषण का पर्याप्त प्रभाव था। प्रयोगवादी कविता का एक पक्ष प्रेम और सौंदर्य को यौन वर्जनाओं और कुठाओं के प्रसग में देखने का रहा है। यह पक्ष प्रेम के जटिल स्वरूप को प्रस्तुत करता है। इस पक्ष के प्रतिनिधि कवि 'अज्ञेय' है। दूसरा पक्ष है प्रेम और सौंदर्य के ताजा और मासल रूपों के चित्रण का। यह पक्ष अधिक ऐन्द्रिय, रागात्मक और रमान वाला है। इस पक्ष के प्रतिनिधि कवि गिरिजाकुमार माथुर हैं।

प्रयोगवादी कविता के शिल्प की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। इस कविता का शिल्प अपनी पूर्ववर्ती काव्य धाराओं के शिल्प से थोड़ा भिन्न है। यह शिल्प न तो छायावादी कविता के शिल्प की तरह कल्पनात्मक है, न उत्तर-छायावादी कविता के शिल्प के समान आत्मनिवेदनात्मक है। प्रयोगवादी शिल्प-दृष्टि, मूलतः वैयक्तिक, बौद्धिक और प्रयोगात्मक है। यह दृष्टि उक्ति वैचित्र्य और लक्षणा, व्यंजना के सौंदर्य-उद्घाटन में पर्याप्त सजग रही है।

इस प्रकार सन् १९४० से १९५० तक प्रयोगवादी कविता की व्याप्ति है। सन् '५० के बाद की कविता से नयी कविता का प्रारम्भ माना जा सकता है। कई विद्वान् प्रयोगवाद और नई कविता में किसी प्रकार का कोई भेद मानने के पक्ष में नहीं है। ये विद्वान् नई कविता को प्रयोगवाद का ही पर्याय मानते है। पर, तथ्य यह नहीं है। नई कविता के प्रवर्तन और विकास के सूत्र प्रयोगवाद में खोजे जा सकते हैं पर इस का यह आशय नहीं है कि नयी कविता को प्रयोगवाद का पर्याय या छद्म रूप कहा जाए। दरअसल, नयी कविता को प्रयोगवाद का 'फालो ऑन' नहीं कहा जा सकता। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि नयी कविता का सम्बन्ध भाव और विचार की उस जमीन से है जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया था। प्रयोगवादी कवियों ने अपने समय के यथार्थ के अनुरूप जिन नवीन और विविध काव्य-प्रवृत्तियों को जन्म दिया, उन प्रवृत्तियों का नये कवियों ने अपने युग-जीवन के यथार्थ के अनुरूप रूपान्तरित करके कविता को नयी दिशाओं की ओर उन्मुख किया।

नयी कविता :
विचार और रचना में संतुलन की खोज

आधुनिकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्मित करने का कार्य तार सप्तक या प्रयोगशील कविता द्वारा सम्पन्न हुआ था। पर, आधुनिक-बोध का प्रसार और इसकी अनेकरूपा अभिव्यक्ति दूसरा सप्तक से (१९५१) मानी जा सकती है जिस के प्रकाशन-वर्ष से नयी कविता का भी वास्तविक प्रारम्भ माना जाना चाहिए। नए पत्ते (१९५३), नयी कविता (१९५४) और निकष (१९५५) पत्रिकाओं के सम्पादन द्वारा इस नयी काव्य प्रवृत्ति में आन्दोलनात्मक त्वरा आई और इस की वैचारिक पीठिका बनी। इसका विरोध भी खूब हुआ पर इससे इस काव्य-प्रवृत्ति की अलबत्ता बढ़ी और इसका स्वरूप स्पष्ट हुआ।

इतना तो साफ है कि नयी कविता की काव्य-स्थिति प्रयोगवाद के आगे की है। नयी कविता का प्रयोगवाद से सम्बन्ध तो है, खास तौर पर भाव और विचार की उस ज़मीन से जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया था। पर, प्रयोगवाद से उसका मौलिक अन्तर भी है। नयी कविता प्रयोगवाद से ऐतिहासिक आधार पर ही नहीं, तात्विक और संवेदनात्मक आधार पर भी भिन्न है। नयी कविता नयी युगीन चेतना और नयी सौंदर्याभिरुचि की सूचना देती है। प्रयोगवादी कविता में प्रयोग बाह्य और शिल्पिक था जबकि नयी कविता में प्रयोग कविता के पूरे संरचनात्मक-तन्त्र में व्याप्त है। इसके अलावा प्रयोगवादी कवियों की जीवन-दृष्टि पर जहाँ मार्क्स और फ्रायड का सीधा प्रभाव है वहाँ नए कवियों पर यह प्रभाव उनकी मानसिकता का सहज अंग बनकर व्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी कवियों ने

विषयगत आभिजात्य से तो मुक्ति पा ली पर उनकी दृष्टि में आभिजात्य बना रहा जो मानव-व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की प्रतिष्ठा के आग्रह को लेकर सामने आया। नयी कविता ने इस आग्रह को अमान्य ठहराया और व्यक्ति के निजत्व, महत्व और शक्ति को रेखांकित किया। व्यक्तित्व की खोज पर 'अज्ञेय' ने भी अपनी कविताओं में 'दे दिया गया हूं' या 'दे दिया जाता हूं' के अन्दाज में बल दिया है किन्तु नयी कविता में व्यक्ति का यह निजत्व धारणात्मक सतह को नहीं, बल्कि गहरी आन्तरिक तड़प और ताप को व्यंजित करता है। *नया कवि व्यक्तित्व की* खोज करता है और इस कीमत पर इस निजत्व को बचाए रखना चाहता है। इसी आधार पर नयी कविता में, विघटित स्थितियों के बावजूद, मानव-भविष्य के प्रति आशा और आस्था व्यक्त है।

नयी कविता की सृजन-प्रकृति पूर्ववर्ती काव्य-सृजन-प्रकृति से थोड़ी भिन्न है। रचना-प्रक्रिया के दौरान सृजन-क्षण के महत्व पर इन कवियों ने विशेष बल दिया—**'बरस पर बरस बीते एक मुक्ता रूप को पकते'** ('अज्ञेय') और **'किन्तु जब मेरी छाती/कोड़ पर अंकुर एक फूटेगा/और भोली गर्वभरी आस्था से निहारेगा/तब उस एकमात्र क्षण में।'** नए कवि ने शब्द को अपने ढंग से इस्तेमाल करना बंद किया और अपने और शब्द के बीच के व्यवधान को तोड़ दिया, क्योंकि रचना-प्रक्रिया में दोनों अलग अलग नहीं, एक रूप हैं :

कहते हैं हम सिर्फ अपने ही ढंग से
बरतना बंद करो, हमें फैलाओ
जैसे किसान फैलाता है बीजों को, ठहरकर सोचना पड़ता मुझे
शब्दों की नयी तरह, परियों को, तमीजों को
मानों अब मैं और मेरे शब्द, अलग अलग नहीं हैं, एक हैं।

(भवानीप्रसाद मिश्र, नयी कविता : २)

नयी कविता पर विचार करते हुए आधुनिकता पर विचार करना बहुत जरूरी है। आधुनिकता पर काफी चर्चा हुई है किन्तु इस की कोई स्पष्ट धारणा उभर कर सामने नहीं आई है। आधुनिकता के स्वरूप के गड्डमड्ड हो जाने का एक मुख्य कारण यह रहा है कि आधुनिकता को 'आधुनिकतावाद' के रूप में, प्रायः, देखा-परखा गया है जब कि ऐसा है नहीं। आधुनिकता ऐतिहासिक परिणति नहीं है इतिहास के एक खास बिन्दु से शुरू हुई प्रक्रिया है जो निरन्तर अपनी आन्तरिकता को विभिन्न स्तरों पर व्यक्त कर रही है। यह खास बिन्दु है विज्ञान का उदय जिसने परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों के आगे प्रश्न चिह्न लगाया है और मानव-विवेक की आधुनिक धारणा को जन्म दिया है—'आधुनिक' इस अर्थ में कि यह धर्म एवं अध्यात्म-निर्भर तथा भाग्यवादी तथा मध्यकालीन बोध से अपनी मूल प्रकृति में भिन्न है। चूंकि यह विवेक विज्ञान सम्मत एवं बौद्धिक है इसने आधुनिक व्यक्ति

की मानसिकता मे बुनियादी अन्तर आया है। इस विवेक से नयी दृष्टि और नयी सौदर्य चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है जिसे मूल स्तर पर, व्यक्ति की सशक्त-चेतना के स्तर पर यथार्थ चित्रण के स्तर पर, मानवीय अस्तित्व सकट के स्तर पर, शैली शिल्प के स्तर पर देखा जा सकता है। नयी कविता म आधुनिकता का प्रस्फुटन इन सभी स्तरो पर समोरम हुआ है।

नए कवि न काव्य-सम्बन्धी सैद्धान्तिक रूढियो को तोड कर कविता को नए रूप म परिकल्पित किया। यह आधुनिकता की व्यापक चेतना और नए मौन्दर्य बोध के प्रसार का परिणाम था। वास्तव म नयी कविता म आधुनिकता सारी धारणा के रूप म नहीं है। इस का प्रतिफलन इस कविता म व्यक्ति और समाज के ठोस सन्दर्भो म हुआ है। जीवन को नयी तथा जटिल वास्तविकता की अभिव्यक्ति देने के प्रयास म *यह कविता रची गई है। कविता को विचार म और विचार को कविता म सयुक्त* करने का प्रयास नयी कविता के लिए एक चुनौती बनी है। विचार और रचना म सतुलन की खोज इस कविता म इसी सिलसिले म हुइ ह।

नया कवि पुराने और परम्परागत मूल्यो को अपने लिए नितात अप्रासगिक पाता है। विज्ञान सम्मत विवेक दृष्टि के कारण उस सभी परम्परागत मान्यताएँ और मूल्य, बदले हुए परिवेश म, निरथक लगत हैं। वह हर मूल्य और मान्यता के आगे प्रश्न लगाता है और उसे अपने विवेक की कसौटी पर कसता है। नयी कविता म शायद पहली बार मूल्यो की तानाशाही को चुनौती दी गयी है। नयी कविता के लिए मूल्य न सनातन है न अन्तिम और न निरपेक्ष। नयी कविता म मोह-भग के चिन्तन का प्रारम्भ यहीं से है। यह चिन्तन परम्परागत मूल्य-व्यवस्था को नकारता हुआ भी मूल्य स्तर पर सक्रान्त है क्योंकि यह मानव-मूल्यो की वाछा की सापेक्षता म है। कुछ उदाहरण लेकर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। धर्मवीर भारती की ये पक्तियाँ लें

लेकिन इन दोनो के बीच
मेरे तीखे पर एकाकी स्वर
केवल सच्चाई का आश्रय लेकर
गूँजेंगे या रव म खो जायेंगे
या ये स्वर पहुँचेंगे जन जन के द्वार
लज्जित माथे पर काटो का सिंगार
या मगल वादन, जय ध्वनि वन्दनवार
क्या पाएंगे
प्रभु
हम क्या पाएंगे
कुण्ठित विघटित

(सात गीत वर्ष, पृ० ३४)

यह मूल्यगत अनिश्चय की स्थिति है जो अवमूल्यन से पैदा हुई है पर इस में मानव मूल्यों से संलग्न होने की तीव्र आकांक्षा ही नहीं, छटपटाहट भी है। विघटित-स्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य टूट रहा है :

सब हर चीज पत्थर की तरह कठोर
यथार्थ या यथार्थ की तरह बनी हुई
मेल नहीं
जिस में दशानन बर्बरता से टकराता
मैं मनुष्य मात्र
टूट रहा—

(कुंवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ८७)

मूल्यगत अनिश्चय की स्थिति में पड़ा हुआ और टूट रहा व्यक्ति मूल्यों के प्रति निष्ठावान है। यह टूट रहा सामान्य आदमी कहीं सार्थक होना चाहता है, बृहत्तर सन्दर्भों से जुड़ना चाहता है। गिरिजाकुमार माथुर की कामना है कि—मन के विश्वास का यह लौहचक्र रुके नहीं, मन में सपने धूल गड़ कर भी बुझें नहीं, और जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं। (सूरज का पहिया—शिलापंख चमकीले) कवि मानव-भविष्य के प्रति निष्ठावान् है। उनकी कविता 'लोह मकड़ी का जाल' की मुक्ति की चीख 'मुझे निकाल लो ओ जीवन देवता, खंड खंड होने से पहले उबार लो', गहरे संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त है। नया कवि भीतर से पीड़ित और खंडित है और समग्र मानवता के प्रति उस के स्वर में आशा और आस्था व्यक्त हुई है। मुक्तिबोध की सम्पूर्ण कविता के रक्त प्लावित स्वर में विश्वास है

सचमुच इसी जनता का रक्त प्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट हो कर विकट हो जायगा।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ३)

विजयदेव नारायण साही की कविता में मुक्ति प्यासी अस्थियों की चीख, अकुलाहट और यातना की अभिव्यक्ति है

और कब तक धमनियों के भाप में
धारे रहूँ
यह दर्द को दे जायगा ?
और कब तक मुक्ति प्यासी
अस्थियों की चीख
भी सुनता रहूँ ?
खोल दो, मेरी शिराएँ खोल दो,
तोड़ दो मेरी पसलियाँ तोड़ दो,
बहो, बहो

फूट करके बहो
मेरे दर्द की वेत्रापगा ।

(तीसरा सप्तक, पृ० १६८)

मानव-भविष्य के प्रति निष्ठा का भाव केदारनाथसिंह की कविताओं में भी है। उन्हें एहसास है कि आज वह कुछ भी नहीं है और उसे विश्वास है कि कल वह अवश्य आयेगा :

कल उगूंगा मैं
आज तो कुछ भी नहीं हूँ
पेड़, पत्ती, फूल, चिड़िया, घास, फुनगी
आह, कुछ भी तो नहीं हूँ
कल उगूंगा मैं

× ×

एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का
आह, कितना कुछ
सभी कुछ
न जाने क्या क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ
भोर से पहले तुम्हारे द्वार पर
तुम मुझे देखो न देखो
कल उगूंगा मैं । (तीसरा सप्तक, पृ० २४२)

रामदरश मिश्र ने भी भविष्य के प्रति यही आस्था व्यक्त की है

मैं यह सब देख रहा हूँ
ओ शरद की स्वच्छ धरती पर
मैली छाँह उगलने वाले
असमय खूसट दम्भी बादल
तुम्हें क्या पता कि
स्कूल जाते हुए छोटे-छोटे बच्चों की तरह
किरणों का एक झुंड
तुम्हें वर्षों से तोड़ रहा है।

(बैरंग बनाम चिट्ठियाँ, पृ० ६)

हरि नारायण व्यास की कविताओं का मूल स्वर भी मानव-भविष्य के प्रति आस्था का है :

इस अंधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेध कर
आ रही ऊपर नए युग की किरण

(तीसरा सप्तक, पृ० ६३)

इसी प्रकार कीर्ति चौधरी की कविताओं में भी भविष्य की प्यार भरी प्रतीक्षा है जो कभी शांति संयुक्त गुच्छों सा आयेगा।

नया कवि जहाँ नए मूल्यों की खोज करता है और मानव-भविष्य के प्रति नया विश्वास और आस्था ले कर चलता है, वहीं वह व्यक्तित्व की निजता की खोज भी करता है। व्यक्तित्व की खोज 'अज्ञेय' की कविताओं में जहाँ धारणात्मक सतह पर है, नई कविता में वह आन्तरिक तड़प और ताप को व्यंजित करती है। इसे वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य या द्वंद्व कहना उचित प्रतीत नहीं होता:

एक आइना दो पहाड़ों की कुहनियों से टेकता
पूरब से पश्चिम को एक कदम में नापता
बढ़ रहा है
जिसकी ऊँची बाहें चाँद तारों को छूने-छूने को हैं
जिस में पुलों को निरखता यह बढ़ रहा है
अपने आप को सुबह में मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार उसे महज उलझा रहे हैं

(शमशेरबहादुर सिंह, कुछ और कविताएँ, पृ० ७)

नयी कविता विघटन और पराजय में से मानव के निजत्व या स्वत्व की पहचान कराने वाली कविता है।

नयी कविता की नयी पीढ़ी में व्यक्ति की अन्तरात्मा से जुड़ी हुई यह यातना और भी अधिक प्रखर है। विपिन अग्रवाल की ये पंक्तियाँ:

मुझे भी अपने अन्दर के संगीत में
ढूँढ़ना पड़ेगा
मुक्ति का क्षण।
नापना पड़ेगा
जितना बाहर आ गया हूँ
बढ़े हुए दायरे से
जितनी लम्बी कर अपनी ही परछाईं।

व्यक्ति के स्वत्व की पहचान और व्यक्तित्व की खोज के कारण नयी कविता में अस्तित्ववादी दर्शन तो नहीं, पर अस्तित्व के प्रश्नों से टकराने वाला दर्शन अवश्य है। 'मुक्तिबोध' में यह दर्शन अपने विशिष्ट रूप में लक्षित किया जा सकता है:

लाखों वर्ष कीटों ने अचानक काट खाया है
व्रणाहत पैर को ले कर
भयानक नाचता हूँ
शून्य मन के टीन छत पर गर्म।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १४६)

नये कवि को लगता है हर मूल्य और सन्देश अपना अर्थ खो चुका है और वह ऐसी जगह आ गया है जहाँ अपरिचितो की भीड है (विपिन कुमार अग्रवाल) या फिर 'शोर के बीच एक गूंज है—नगी और बेलौस जिसे वह दे दिया गया है।' (रघुवीर सहाय) और कुँवर नारायण को लगता है ये सब केवल इन्तजार की बेबस घडियाँ हैं। मुझे किसी अन्तिम घटना की ओर घसीटती हुई, छोटी-छोटी घटनाओं की मजबूत कडिया हैं, इस प्रतीक्षागृह मे लगा एक और कमरा है जिस मे एक अजनबी है, या जो शायद एक दूसरे से, ढके हुए अनेक अजनबियो से भरा है।' इन कविताओ मे अस्तित्व की थाल मान्यताओ का चुस्त बयान है। उनका तल्ख एहसास नही। इन मे मुक्तिबोध की कविताओ के समान आन्तरिक अनुभूति का ताप नही है। कैलाश वाजपेयी की कविताएँ भी अस्तित्वगत धारणाओ की रेह टरिक के सहारे बयानबाजी हैं। यहाँ विचार धारणाओ के रूप म उपस्थित हैं और कविता नहीं बनने देत।

नयी कविता म व्यक्ति के स्वत्व और अस्तित्व बोध के प्रश्न को मामूली आदमी की सवेदना के स्तर पर आका गया है। इसे लघु मानव या लघुता का दर्शन कह सकते है। इस म साधारण व्यक्ति के भोग हुए यथार्थ की प्रतिष्ठा है, जीवन की साधारणता का महत्त्व है, लघुता का स्वीकार है और आभिजात्य का अस्वीकार। नयी कविता मे क्षण की महत्ता और लघु-मानव की प्रतिष्ठा जीवन के प्रति गहन सक्ति और अस्वीकार के भाव से प्रेरित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता मे, जो नयी कविता मे लघु मानव के व्याख्याता हैं, 'लघुता के प्रति गहरा लगाव है

हम
जो भोगते हैं हर स्थिति असहाय से, निरपाय से
भेलते हैं हर परिस्थिति दीन, व्याकुल अनिवार्य से
और वह
जो हमारी पीडा मे, सशय मे, शका मे
बनाता है हम विक्षिप्त, तरल, फनिल उच्छ्वास
हम है उन के भोग्यार्थ नही,
क्योकि असहायता, निरपायता, अनिवार्यता
सशय, शका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
वह केवल मेरा नहीं
उस म वे सब है
जो मेरे ही समानधर्मा हैं

(अतुकान्त, पृ० ८-९)

वे लघुता का एक मूल्य के रूप मे कथन करते है जो विचार तो देता है पर रचना नहीं बन पाता।

कीर्ति चौधरी की कविता 'प्रस्तुत' मे अभिजात के विरुद्ध लघुता का स्वीकार बडी बेबाकी से किया गया है .

मेरे गीतो, मेरी बातो मे यहाँ वहाँ
जो जिक्र असाधारणता के हैं दिख जाते,
वे सभी गलत।
सारा जीवन मेरा साधारण ही बीता।
हर सुबह उठा तो काम काज दफ्तर फाइल।
झिडकी—फटकारें, वही वही कहना-सहना।
मैंने कोई भी बडा दर्द तो सहा नही।
कुछ क्षण भी मुझ सग बहुत हर्ष तो रहा नही।
जो दृढ़ता-दर्प पक्तियो मे मैंने बाधा,
वह मुझ मे क्या
मेरी अगली पीढ़ी मे भी सम्भाव्य नही।

(तीसरा सप्तक, पृ० ९७)

यहाँ विचार कविता पर लदा या मढा नही लगता बल्कि सामान्य जीवन-व्यवहारो-सहित रचना को चरितार्थता प्रदान करता है।

नयी कविता की यथार्थ-दृष्टि लघुता और लघु-मानव के इस दर्शन पर ही आधारित है। यह दृष्टि यथार्थ को जीवन की वास्तविक स्थितियो के सदर्भ मे ग्रहण करती है, उस पर किसी सिद्धान्त का मुलम्मा नही चढाती। इस मे न फ्रायड का आग्रह है और न मार्क्स का। इसका अन्दाज रूढ यथार्थवादी न हो कर यथार्थ की आन्तरिकता को उघाडने वाला है। यह हमारे परिवेश का जीता-जागता यथार्थ है। यह यथार्थ शहर का भी है और गाँव का भी, सामाजिक-आर्थिक विषमता का भी है और राजनीतिक व्यवस्था म पिस रहे आदमी का भी। मदन वात्स्यायन की कविता इस यथार्थ को गहरे सवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त करती है। यह सवेदना भावना से नही, विचार से प्रेरित है और रचना में प्रतिफलित हुई है :

ओ मेरे अफ्सर
तुम्हारी एक लाइन ने मेरे जीवन की कविता को निरर्थ कर दिया
बीच जिन्दगी म मैं एकाएक विधवा हो गया
हसरत-भरी निगाहो से मैं उस क्षितिज को देख रहा हूँ जहा
अब मेरा चाँद नही उगेगा,
मैं वह पौधा हूँ जिसकी जड झींगुर ने काट दी, इस मे अब
फूल नही खिलेंगे।

(तीसरा सप्तक, पृ० १७२)

नयी कविता मे यथार्थ को व्यग्य के माध्यम से भी उभारने की कोशिश की गयी है। भवानीप्रसाद मिश्र की कविता मे व्यग्य भाषा के सरल और सीधे मुहावरे द्वारा जबरदस्त चोट करता है :

आप बड़े चिन्तित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे
आप चाहते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे
मैं उतारना नहीं चाहता जाहिल अपने बाने
धोती कुरता बहुत जोर से लिपटाये हूं याने।

(नयी कविता १)

यथार्थ के प्रति इस नयी दृष्टि ने प्रेम और रोमान की धारणा और सन्दर्भ बदल दिए है। गिरिजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती की कविताओं में प्रेम का स्वरूप मांसल और यथार्थपरक है। नए कवियों में प्रेम और रोमान के प्रति कोई कुंठा नहीं है। वे उसे खुले रूप में स्वीकारते है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता— 'ग्रह से मेरे बड़ी हो तुम' और विजय देव नारायण साही की कविताओं 'दोपहर : नदी-स्नान (निकष-१) और 'विषकन्या के नाम' (तार सप्तक, पृ० ३३४) में बदले हुए प्रेम-सम्बन्ध को लक्षित किया जा सकता है।

नयी कविता की वस्तु और संवेदना ही नहीं, उस का शिल्प भी नया है। वस्तु और शिल्प नयी कविता में अन्त सम्बन्धित है। पुरानी और रूढ शिल्प-दृष्टि को इस में नकारा गया है। नयी आधुनिक-दृष्टि से पुराने रूढ उपमानों और प्रतीकों का मेल बैठना ही नहीं। इस सम्बन्ध में 'अज्ञेय' की यह उक्ति अत्यन्त सार्थक है :

अगर मैं तुम को
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता''',
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
बल्कि केवल यही, यह उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

(पूर्वा, पृ० २४४)

नए कवि ने ऐसे प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों को छोड़ दिया, अधिक घिस जाने से जिन का मुलम्मा छूट गया था। नयी कविता में प्रयुक्त प्रतीक, बिम्ब और उपमान नयी जीवन दृष्टि और नये सौन्दर्य-बोध के सूचक हैं। नयी कविता में एक ही 'प्रतीक' किस प्रकार नये-नये अर्थों में सक्रमित होता गया है, इस के लिए दो उदाहरण लिए जा सकते हैं .

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूं,
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में

अक्षौहिणी-सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आ कर घिर जाये
(धर्मवीर भारती, सात गीत वर्ष, पृ० ७६)

× ×

इस महा जीवन समर में अन्त तक कटिबद्ध
मेरे ही लिए यह युद्ध मेरा,
मुझे हर आघात सहना,
गर्भ-निश्चित मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध ।
(कुंवर नारायण, चक्रव्यूह, पृ० १०३)

एक तुच्छ उपकरण—रथ का टूटा हुआ पहिया—दुरूह चक्रव्यूह में अभिमन्यु के लिए बलशाली साधन सिद्ध हुआ था। कवि कहता है कि वह ऐसा ही एक तुच्छ उपकरण—रथ का टूटा हुआ पहिया—है जिस में अपरिमित शक्ति है, तथा, जिस की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यही अभिमन्यु के हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता है। 'टूटा हुआ पहिया', यहां तुच्छ समझे जाने वाली वस्तु या व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति का प्रतीक है जो न्याय और अत्याचार के विरुद्ध अचूक साधन है। दूसरे उदाहरण में 'अभिमन्यु' आधुनिक व्यक्ति-मन का प्रतीक है—पीड़ित और विभक्त। उस पर हर प्रकार के आघात पड़ रहे हैं और यह कहना कठिन है कि अन्ततः वह इस युद्ध घेरे को तोड़ सकने में सफल होगा या नहीं। पहले उदाहरण में *'टूटा हुआ पहिया'* मूल्यगत संक्रमण में पड़े व्यक्ति के अकेलेपन तथा निहत्थेपन के साथ-साथ उस के दायित्व-बोध को व्यंजित करने वाला प्रतीक है। दूसरे उदाहरण में *'युद्ध-घेरा'* और *'नया अभिमन्यु'* मानसिक कुचक्र और उससे बाहर निकलने की तत्परता के प्रतीक हैं।

नयी कविता के प्रतीक और बिम्ब आधुनिक व्यक्ति की संक्रान्त मन स्थिति से सम्बद्ध हैं। मुक्तिबोध की ये पंक्तियाँ इस मन स्थिति को प्रतीकात्मक बिम्ब के सहारे व्यक्त करती हैं

अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर
अचानक सनसनी भौंचक
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन सी यह आग ?
जिस से नच रहा हूँ
खड़ा भी हो नहीं सकता, न चल सकता।
(मुक्तिबोध, चाँद का मुंह टेढ़ा है, पृ० १४६)

शीत-ताप सम्बन्धी यह बिम्ब (Thermal Image) महज एक शिल्प-साधन के रूप में यहां इस्तेमाल नहीं हुआ बल्कि इससे आधुनिक व्यक्ति का त्रासदायी अनुभव उजागर हुआ है। इसी ढंग का बिम्ब निम्नलिखित पंक्तियों में भी है :

इस गली के छोर पर बुनियाद डालो
कोठरी में दीप की लौ
सेंक्ती ठंडा ग्रंधेरा
इन्ही पर्तों में कहीं सोया हुग्रा है
रूप का गोरा सवेरा

(कुंवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ३१)

नयी कविता की शिल्प दृष्टि इस कविता के विचार-पक्ष ग्रौर ग्रनुभूति पक्ष से ग्रनिवार्यत , जुड़ी हुई है। इस मे काव्यगत विचार ग्रौर ग्रनुभूति के समानान्तर प्रतीक ग्रौर बिम्ब की रचना हुई है। काव्य शिल्प म इन कवियो की बुनियादी निष्ठा है गो इन कवियो ने 'शिल्प' को काव्य-कौशल या युक्ति के रूप मे कम ही ग्रहण किया है। इस म विचार, ग्रनुभूति ग्रौर शिल्प मे एक रचनात्मक सतुलन बैठाने की कोशिश झलकती है।

नयी कविता ने कविता की चली ग्रा रही रूढियो ग्रौर परम्पराग्रो को बहुत जोर से झकझोरा ग्रौर जीवन-दृष्टि ग्रौर सौंदर्य-बोध के ग्राधार पर कविता की नयी परिकल्पना की। पर सन् ६० तक ग्राते-ग्राते नयी कविता भी शिल्प ग्रौर कथ्य की दृष्टि से रूढ हो गयी। उपमानो, प्रतीको तथा बिम्बो की पुनरावृत्ति ही नही हुई, भाव ग्रौर विचार की ग्रभिव्यक्ति का भी एक ढर्रा बन गया ग्रौर सवेदना बने-बनाये साचो मे फिट हो गयी। ग्रपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करके नयी कविता, कविता को नए ग्रौर ग्रधिक समर्थ हाथो मे सौंप चुकी है।

समकालीन कविता :
मानव-नियति या आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति

समकालीन कवि अपनी कविता के संबंध में जब यह कहता है 'यह वह कविता नहीं है / यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है / यह केवल रस नहीं / जहर है जहर' (रघुनाथ सिंह), तो वह कविता संबंधी परम्परागत धारणा के विरुद्ध नयी धारणा में अपना विश्वास व्यक्त करता है। यह वह कविता तो निश्चय ही नहीं है जिसका परम्परा से मान्य एक स्वरूप हो। उस स्वरूप की प्रासंगिकता आज लुप्त हो गयी प्रतीत होती है। परम्परागत अर्थ में 'कविता स्थगित हो गयी है / किट-किटाते दाँतों के बीच/मेरे वक्तव्य / बेवकूफ की तरह / मुझ पर हँस रहे हैं' (चन्द्रकांत देवताले)। इसे आज के कवि का प्रलाप मात्र या उसका मराजक तेवर कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। इसकी एक अनिवार्य संगति उस भयावह और क्रूर परिवेश से है जहाँ कविता सार्थक हो पाने के लिए बेमानी है या स्तब्ध हो जाती है, जहाँ चीजों के रंग और आकार एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं और उनकी पहचान खो जाती है : 'हवा हो जाता है इतिहास रचना / घोषित चीजों की भाषा में / बेजरी बोले लाल फूलों के किस्मों की पहचानें सारी उलट-पुलट जाती हैं / रोता है देवता मुरदार आयुधों के नाम / जरूरी हो जाती है तब कविता एक और किस्म की' (कमलेश)। आज के मनुष्य की स्थिति और नियति की पहचान के सिलसिले में और परिवेशगत दबावों और निरन्तर जटिल होते जाते अनुभवों के फलस्वरूप मानवीय दशा में एक और किस्म की कविता-धारणा संभव हो सकी।

सन् '६० के बाद की कविता कवियों की दृष्टि में (धारणात्मक सतह पर) ही नहीं, अपने पूरे रचनात्मक विधान में बदली है। समकालीन कवियों की काव्य-सम्बन्धी धारणाएँ कविता और कवि-कर्म की आन्तरिकता में घटित होने वाले मौलिक बदलाव से विच्छिन्न नहीं, बल्कि उसी का प्रतिफल हैं। कविता की आन्तरिकता में घटित होने वाला मौलिक बदलाव का स्तर है कविता का समकालीन मनुष्य की स्थिति और नियति से जुड़ते जाना, उसकी पहचान करना, उससे गहरे आत्मिक स्तरों पर जूझना और उस मानवीय यातना का बोध कराना जो उसके हिस्से की है। स्पष्ट है कि यह कोई सीधा सरल अनुभव नहीं है जिसकी आसानी से कोई व्याख्या या परिभाषा दी जा सके। यह अनुभव अपनी प्रकृति में गहन और संश्लिष्ट, जटिल और परतों-आवर्त्तों में लिपटा हुआ है। इसके साथ व्यक्ति और समाज तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के कई प्रश्न जुड़े हुए हैं। ऐसे अनुभव की अभिव्यक्ति सीधी और आसान नहीं हो सकती। साधारण औसत ढंग की स्थितियों के चित्रण या वर्णन से या उनका सरलीकरण कर देने से यह संभव नहीं है।

सातवें दशक का कवि मानव-स्थिति की समझ और पहचान की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता गया है। इसे समझने और पहचानने के लिए वह किन्हीं रूढ़ या सुनिश्चित विचार-सरणियों के बल पर प्रवृत्त नहीं हुआ है। किसी वाद या सिद्धांत का भी वह अनुवर्ती नहीं बना है। यह समझ और पहचान कहीं वैयक्तिक धुरी पर टिकी है तो कहीं सामाजिक धरातल पर। पर, अधिकतर हुआ यह है कि बाह्य यथार्थ इस तरह भीतर स्थानान्तरित हुआ है और भीतरी सच्चाई बाहरी आसंगों प्रसंगों से इस कदर लिपटती चली गयी है कि बाह्य और भीतर में, वैयक्तिक और सामाजिक परिदृश्यों में कोई विभाजन-रेखा खींचना कठिन हो गया है।

सातवें दशक की कविता में भाषा और संवेदना के स्तरों पर एक तनावपूर्ण मुहावरा उभरा है। यह व्यक्ति और समाज के बदले हुए रिश्ते के कारण भी है और आधुनिक व्यक्ति के आत्म-संघर्ष से उत्पन्न द्वंद्वात्मक मन:स्थितियों के कारण भी। पर, कई जगह यह तनावपूर्ण मुहावरा अभिव्यक्तिगत संयम के अभाव का भी सूचक बन गया है जिससे तनाव की अभिव्यक्ति सर्जनात्मक रूप ले ही नहीं पाती। इससे तनाव महज एक मुद्रा बन कर रह गया है : *'एक नई नस रोज तनना शुरू करती है / और टूटने तक चढ़ती चली जाती है / आदमी-आदमी के बीच एक कब्र है / और यह कब्र बढ़ती चली जाती है'* (कैलाश वाजपेयी)।

इन पंक्तियों की 'टोन' में जो 'रेट्टरिक' और बयानबाजी है, इससे किसी भी मानव स्थिति का बोध नहीं जगता। कैलाश वाजपेयी की 'स्नायुघात' कविता हो या 'देश एक शोकगीत' या 'आगामी भूनवाणी' इनके माध्यम से कोई मानव-स्थिति उजागर नहीं होती, केवल कवि की उस प्रवृत्ति का पता चलता है जिससे वह स्थितियों को संवेदनात्मक स्तरों पर ग्रहण न करके उनके प्रति शाब्दिक प्रतिक्रिया या स्नायविक उत्तेजना का मुहावरा अख्तियार कर रहा है। इसी मुहावरे का

शिकार हो जाने के कारण जगदीश चतुर्वेदी की भी अनेक कविताएँ तनावहीन शाब्दिक तनाव में बिखर कर रह गयी हैं और इनमें आज के मनुष्य की हालत और नियति का प्रामाणिक और पैना एहसास नहीं जग पाता। श्रीकांत वर्मा आज के मनुष्य की हालत को अपनी कविताओं में चित्रित तो करते हैं, पर यह है चित्रण की हद तक ही। वे स्थितियों का हलचलभरा, उद्विग्न बना देने वाला तल्ख बोध नहीं करा पाते 'एक आदमी दूसरे का और दूसरा तीसरे का दहेज है / जिसकी वाणी में आज तेज है / दस साल बाद / वह इस तरह लौट आता है / जैसे किसी वेश्या के कोठे से / अपने को बुझा कर।' यह उत्तेजक मुहावरा राजकमल चौधरी के काव्य में भी है, पर वे इस मुहावरे का मानव स्थितियों की पहचान के सिलसिले में अन्वेषित करते हैं और उसे ज्यादा से ज्यादा सर्जनात्मक बनाते हैं। उनकी लम्बी कविता 'मुक्ति प्रसंग' समूचे बाह्य यथार्थ को आन्तरिक स्तरों पर गुंजित करने की कोशिश करती है। इस कोशिश में राजकमल कई बार लड़खड़ाये हैं, पर उनका प्रयत्न लगातार यही रहा है कि वे बाहरी स्थितियों के दबाव में जकड़ी हुई अपनी अन्तरंग सचाई का अभिव्यक्त कर सकें 'क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों में और कभी वियतनाम में / होता है।' यह बाह्य परिवेश का भीतरी सन्दर्भ देकर वैयक्तिक धरातल पर सृजित करने की प्रक्रिया है / मैं इतिहास-पुस्तक की तरह खुला पड़ा हूँ। लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले / सज्जनों को यह जान लेना होगा / हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा मांस / अथवा मिट्टी / केवल हवा कीड़े जख्म और गन्दे पनाले हैं अधिक स्थानों पर इस देश में / जहाँ सड़कर फट गयी है नसें वहाँ वहाँ तक नहीं / ऊपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी न ही धुंआ / जठराग्नि दावानल** सब बुझ गये अचानक पहले पन्द्रह अगस्त की पहली रात के बाद / अब राख ही राख बच गया है पीला मवाद।' 'इस गतिहीन वर्तमान, में', मगर 'होने के बावजूद न हो पाने की विडम्बना का यातनापूर्ण एहसास कवि को है। यह स्थिति या नियति का महज बयान नहीं कविता में आज के आदमी की स्थिति या नियति का चरितार्थ होना है।

इधर की कविता में सामान्यीकरण या सामान्य बिम्ब के अमूर्तिकरण की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है। काव्य रचना की यह एक खतरनाक प्रवृत्ति है। इससे रचना अपने स्तर से गिरकर वाग्-स्फीति में बदल जाती है। अमूर्तिकरण के माध्यम से भीतरी जटिल और अवांतर स्थिति का गाढ़ पान से सभी सहायता मिल सकती है अगर इसका आधार कोई विशिष्ट अनुभूति या स्थिति हो। चालू बिम्ब का अमूर्तिकरण कविता के स्तर को गिराना ही है, उठाना नहीं 'पता नहीं मुझसे क्या गलती हो गयी है / आजादी के बाद / देश भक्ति / मेरे कन्धे से सिर टिका कर सो गयी है या 'जिस' पर कोई नहीं खाना चाहता / आजादी एक जूठी थाली है' (सीता-धर जगूड़ी)। स्थितियों के इन सामान्यीकरणों की वजह से ये कविताएँ अपना कोई विशिष्ट चरित्र नहीं बना सकी हैं। लीलाधर जगूड़ी के काव्य में ऐसे

स्थल कम ही है जहाँ वे सामान्यीकरणों को स्थितिगत विसंगति या विडम्बना से जोड़ सके हों। सौमित्र मोहन अपनी लम्बी कविता 'लुकमान अली' में ऐसा करने में सफल हुए हैं। मानव-स्थिति के विसंगतिपूर्ण एहसास के माध्यम से इस कविता के सामान्य और अमूर्त कथन भी विशिष्ट और चमत्कृत हो उठे हैं। 'लुकमान अली वहाँ से शुरू करता है जहाँ कुछ भी होना रुक गया है।' × × × 'लुकमान अली किसी भी चीज को नहीं बदल सकता / अपने को भी / नहीं। वह सिर्फ इन्तजार कर रहा है। वह 'इंतजार की व्यर्थता' के मुहावरे / को जानता है / वह काँच को फुलाकर उससे / एक सैनिक बना रहा है। वह उसे चुटकुले सुनाएगा और खुद ही से हँसता / हुआ दरवाजों से नाड़े निकालने लगेगा / वह बाहर लुकमान अली है और भीतर अन्धा तहखाना।' यह कविता आज के मनुष्य की यातना का बोध तो कराती है, पर मानव-नियति की कवि-धारणा कुछ ऐसी है जो न कोई विकल्प छोड़ती है और न कोई रास्ता देती है। चन्द्रकान्त देवताले स्थितियों के मात्र चित्रण से या उनके सामान्यीकरण से काफी हद तक बचे रहे हैं। उन्होंने इन स्थितियों को अस्तित्वगत प्रश्न के रूप में उठाया है 'मरने की स्वतन्त्रता बहुत पीछे छोड़कर / नवेल खींचता है अस्तित्व का / और फिर बदहवास साँस भींचता है, करने को मरने से पहले रिहर्सल मृत्यु की।' प्रमोद सिनहा ने अपनी लम्बी कविता 'तलघर' में आज की नाटकीय स्थिति को बड़ी बेबाकी से चित्रित किया है 'उनका क्या होगा, जो'' / केवल देख सकते हैं / हाथ की वसीयत नहीं रखते / सिवा अवाक् रह जाने के अपने घर जाने के रास्ते भी नहीं मिलते / क्या उन्हें पूछने की असमर्थता में केवल चलते चले जाना होगा / सामने—केवल सामने, जहाँ कुछ भी नहीं दीखता'''।' इन कवियों की मानव-नियति सम्बन्धी धारणा कहीं-कहीं उस चरमता को छूती है जहाँ मनुष्य की सकल्प-चेतना या मनुष्य के नाते सार्थक हो पाने की उसकी कोशिश या सम्भावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ये कविताएँ आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति का बोध जगाने की अपेक्षा अंध गुफा या अंधी गली का एहसास अधिक कराती हैं।

मानव-नियति के प्रश्न को ठोस सामाजिक स्थितियों और मनुष्य की सकल्प-चेतना से संयुक्त करके अभिव्यक्त करने के प्रयत्न इधर की कविता में हुए हैं। इनमें यथास्थिति का स्वीकार-मात्र नहीं, बल्कि स्थितियों के प्रति व्यंग्य का, गहरी छटपटाहट का और विद्रोह या आक्रोश का भाव है। अक्सर हुआ यह है कि विद्रोह आक्रोश और सामाजिक परिवर्तन लाने का आह्वान बड़बोलेपन में तब्दील होता गया है जिसका मूल्य रचना को चुकाना पड़ा है 'बाँस के झुकने को मैं क्षमा नहीं कर सकता 'मुझमें नहीं उगेगा बाँस / कक्ड में फोड़ूंगा दूर पड़े रस के गिलास / काँटे से बेधूंगा फलों की त्वचा / कीचड़ या तारकोल को मुट्ठियों में फेंकूँगा / नंगे शरीर को अपराधी तोंदों व गालों पर' (श्याम विमल)। यथास्थिति को बदलने के लिए यहाँ जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है, उसे देखते हुए आक्रामकता और

भावुकता में फर्क करना कठिन है। 'अभी और ज्यादा नये इन्सान की जुबान से/सच्ची कविता निकलने की दिशा में/कोशिशें होंगी' (विजेन्द्र)। इस सद्भावना का तभी कोई मूल्य है यदि यह रचना की आन्तरिकता का हिस्सा बने और उसी में से उद्भूत हो, नहीं तो यह दावा करने से कि 'सुनें कि मेरी कविता में उनकी मौत की सज़ा का ऐलान किया/जा रहा है' (वेणु गोपाल) कविता मृत्यु के बोध की कविता नहीं बनती। रामदरश मिश्र और धूमिल ने अपनी कुछेक कविताओं द्वारा मानव-स्थिति को ठोस सामाजिक ब्योरों में, सामाजिक शक्तियों की टकराहट में रखा है और अपनी कविताओं की संरचना में गूँथकर एक संगति बैठाने की कोशिश की है। इस कोशिश में सब से अधिक आड़े आयी है इन कवियों की सामान्यीकरण की प्रवृत्ति: 'धरती फट गयी है कितने टुकड़ों [illegible] / और हर टुकड़े को बारी-बारी खा रहा है / बड़े इतमीनान से / एक अकाल /एक बाढ़ / एक महँगाई / एक बेकारी' (रामदरश मिश्र)। जहाँ कहीं वे इस प्रवृत्ति से उबरे हैं, उनकी कविता से होने न होने के बीच की यन्त्रणा, सामाजिक अनुभव सहित व्यक्त हुई है 'बार-बार लगा / कि पहचानने वाले हाथों का दबाव / मेरे खून तक, मेरी आवाजों तक कसा है।' धूमिल में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति कुछ अधिक है 'मैंने अहिंसा को / एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा / मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेबें / भरते हुए देखा / मैंने विवेक को / चापलूसों [illegible] तलवे चाटते हुए देखा' (धूमिल)। कुमार विकल की कविता भी सामाजिक स्थितियों के तल्ख एहसास से सम्बद्ध है। उनमें सामाजिक स्थितियों का कोरा स्वीकार नहीं। कवि हिजड़ों की शव-यात्रा का साक्षी नहीं बनना चाहता. 'सच कहता हूँ / तुम मेरी जिह्वा पर जलते अंगारे रख दो / कानों में सीसा भर दो / आँखों में ज़हरीली कील रोप दो/ताकि मैं हिजड़ों की शवयात्रा का साक्षी न बन पाऊँ।'

यह सही है कि आज कविता किसी 'चालू सिलसिले का स्वीकार मात्र' (ऋतुराज) नहीं रह गयी है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कविता को इस सिलसिले का एक कड़खोना अस्वीकार मात्र घोषित कर दिया जाय। निस्सन्देह, यह आज के कवि के आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति है जिसकी ओर कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने संकेत भी किया है :

समुद्र को तैर सकने में अपने को अक्षम पा
रहे य लोग आत्म संघर्ष की विकट स्थिति
से गुजर रहे हैं (मैं इनके गूँगे आत्म-संघर्ष
के मुँह में जबान डालने की कोशिश में हूँ)

सवाल यह है कि गूँगे आत्म-संघर्ष के मुँह में जबान डालने की कोशिश रचनात्मक स्तर पर किस रूप में प्रतिफलित हो कि वह कविता बने ? आज की कविता को परखने के लिए यह प्रश्न बुनियादी महत्त्व का है।

समकालीन कविता :
अस्वीकार का विचार या मुद्रा

अब इस बात पर जोर देने की जरूरत नहीं रह गयी है कि समकालीन कविता पूर्ववर्ती कविता मे भाषा, संवेदना और काव्य-मुहावरे के स्तरो पर कितनी बदल गयी है और भिन्न हो गयी है। इस बदलाव और भिन्नता को आज का पाठक कविता के स्वभाव, रचाव, संरचना और सृजन-प्रकृति मे साफ तौर पर देख रहा है। आज की कविता का बदलाव निस्सन्देह तात्त्विक और बुनियादी किस्म का है। कविता और कवि-कर्म की धारणा मे अब काफी परिवर्तन आ चुका है। कविता की 'मिथ' के टूटने और उसे नए रूप मे परिकल्पित करने के पीछे एक विशेष और भिन्न बोध है जो अस्वीकार से अनुप्रेरित है। अस्वीकार द्वारा पुरातन मूल्य-व्यवस्था को नकारा जाता है, लेकिन यह नकारना आधुनिक व्यक्ति की पीड़ा, तनाव, विसंगति और विडम्बना से जुड़े होने के कारण एक मूल्य-स्तर पर सक्रान्त भी रह सकता है। आज के कवि के सास्कृतिक और काव्य-परम्पराओ तथा संस्थाओ और व्यवस्थाओ के विरुद्ध हो जाने के पीछे अस्वीकार की यही दृष्टि है, भले ही कुछ कविताओ मे यह दृष्टि एक मुद्रा या लहेजा बन कर रह गयी हो।

अस्वीकार आधे या अधूरे मन से नहीं, संपूर्ण बौद्धिक मानसिक और भावनात्मक शक्ति से किया जाता है। इसीलिए अस्वीकार केवल भावुक प्रतिक्रिया, महज नकार, कोरा विद्रोह, आक्रोश या विस्फोट न हो करके, रचना के पक्ष मे एक दर्शन है, जिसका

धरातल मानवीय स्थितियों से गहरे में सम्पृक्त होने की वजह से संवेदनात्मक है। कविता के सन्दर्भ में अस्वीकार स्थूल नारेबाजी या लफ्फाजी न हो कर एक आन्तरिक और सर्जनात्मक प्रक्रिया है। अस्वीकार अगर तीव्र प्रतिक्रिया या विस्फोट के रूप में अभिव्यक्त है तो वह कविता के काम का नहीं। वह ज्यादा से ज्यादा एक सुविधाजनक मुद्रा बन सकता है, उस से 'अस्वीकार का भ्रम' पैदा हो सकता है जिस से कविता में शब्द छल सरक आता है। अस्वीकार की यह मुद्रा कविता को न विचार-स्तर पर प्रामाणिक बनने देती है न अनुभूति स्तर पर।

आधुनिक अस्वीकार का आधार है विज्ञान और यन्त्र-सभ्यता की निरपेक्ष, निर्मम और क्रूर दृष्टि। इसी लिए अस्वीकार को आधुनिक विचार के रूप में ग्रहण करने का इतिहास पिछले कुछ वर्षों का ही है। इसकी शुरुआत प्रयोगवादी कविता से मानी जाती है। पर इस कविता में अस्वीकार एक सुविधा से अधिक नहीं है। संवेदना और विचार के सूक्ष्म स्तरों पर अस्वीकार की व्याप्ति इस कविता में लगभग नहीं है। प्रयोगशील कविता प्रयोग और प्रयोगशीलता के प्रक्षेपित शब्दों के सहारे चर्चित तो हो गयी पर नए सन्दर्भों में आदमी के बदले हुए एहसासों को (कुछेक कविताओं में दुविधाग्रस्त मन स्थिति के चित्रण के बावजूद) कोई नया मुहावरा न दे सकी। इस में अस्वीकार एक धारणा और प्रतिक्रिया बन कर आया, विचार और एहसास बन करके नहीं और यही प्रयोगवादी कविता के बहुत जल्दी एक मुद्रा और 'मैनरिज्म' बनने का कारण बना। इस मुद्रा की गिरफ्त से नयी कविता भी छूट न सकी, यद्यपि इस में पहली बार अस्वीकार को एक वैचारिक आधार देने की कोशिश की गयी। इस कविता में विघटन और मोहभंग के स्वर तो उभरे, लेकिन विघटन और मोहभंग का आशावाद और मानववाद के रूप में हुथ हो जाने के परिणामस्वरूप, अस्वीकार अपने आन्तरिक लाजिक के रूप में 'इवाल्व' न हो सका। नयी कविता जिस मूल्य व्यवस्था से जुड़ी हुई थी उस का अस्वीकार की प्रकृति और दर्शन से कोई तालमेल न बैठ सका। यह तालमेल समकालीन कविता में है। इस में हम अस्वीकार को, आधुनिक व्यक्ति के सन्दर्भ में रचित एक चिन्ता धारा के रूप में और आन्तरिक तर्क-संगति में विकसित हुआ पाते हैं, पर यहाँ भी कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ अस्वीकार सर्जनात्मक न हो करके सामान्य और सतही है और तकनीक और अन्दाज से आगे नहीं बढ़ता।

समकालीन कविता से कुछ उदाहरण ले कर बात स्पष्ट की जा सकती है। श्रीकान्त वर्मा की कविताओं में अस्वीकार की तल्खी जरूर है। राजनीतिक संस्थाओं के प्रति उन की कविताओं में तीव्र घृणा का भाव है। कवि को लगता है कि राजनीतिज्ञों की आत्माएं बिल्लियों की तरह मरी पड़ी हैं; लोकतन्त्र मखौल बन चुका है और—

रथ में जुते हैं दो उल्लू
पहियों की जगह

यहाँ अस्वीकार केवल कथन और अन्दाज में है। कवि संस्थाओं के प्रति घृणा-भाव को मानव नियति के सन्दर्भों से संयुक्त नहीं कर सका है। दूसरी ओर राजकमल चौधरी अस्वीकार को वैचारिक पीठिका पर सर्जनात्मक मुहावरा देने में सफल हुए हैं

कवियों की शब्दावली में लिखे गए शान्ति के संयुक्त वक्तव्य
हाईड्रोजन-बम परीक्षण में पंख फड़फड़ाते हुए
कबूतरों की मौत मर जाते हैं
और बाकी शहरों में राजनीतिक वेश्याओं ने पीला मटमैला अँधेरा
फैला रखा है।
अपनी देह को उजागर करने के लिए
नयी दिल्ली में और ढाका कराची में अब कोई फर्क नहीं है

विश्व भर की राजनीति ने हमें कहाँ ला पटका है? तमाम आदर्श और मूल्य अपनी प्रामाणिकता खो बैठे हैं

पराजय के तीस वर्षों में एकत्र की गई यश संकम इतिहास
समाज परिकल्पना ज्योतिष की किताबें डाक टिकट सिक्के सोवेनियर
मैं बड़े डाक घर के बहुत बड़े लेटर बाक्स में डाल आया

राजकमल चौधरी का अस्वीकार मात्र फैशन नहीं, बल्कि मानवीय अस्मिता के आमने-सामने है। कवि का संगठन और संस्थाओं के विरुद्ध हो जाना 'अपनी इकाई बचाने' और 'अपनी मुक्ति के लिए' है। अस्वीकार का जोश या आवेग यदि अस्तित्वगत स्थितियों से जुड़ा हुआ नहीं है तो उस के मुद्रा बन जाने का खतरा रहता है। कैलाश वाजपेयी स्वयं को उस खतरे से बचा नहीं सके हैं, उन की कविताओं की तनाव मुद्रा अस्वीकार को कहीं भी रचनात्मक अर्थ-सन्दर्भ नहीं पाते देती, अस्वीकार का भ्रम पैदा करती है। उन की कविताओं की 'टोन' में जो 'रेहृटरिक' और बयानबाजी है उस से इन कविताओं के बोध की प्रामाणिकता के सामने प्रश्न-चिन्ह लग जाता है। यह एक 'सिनिक' का अस्वीकार है। 'स्नायुघात', 'देश — एक शोक गीत' और 'आगामी भूत वाणी' ऐसी ही कविताएँ हैं।

दूधनाथ सिंह की कविताओं में अस्वीकार का न तो कथन है और न ही मुद्रा। उन्होंने अस्वीकार को संवेदना के सूक्ष्म और गहन स्तरों पर अभिव्यक्त किया है और उसे वरण की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ से जोड़ दिया है। उसे लगता है कि वह 'अँधियारे के शून्य में बाँहें फैलाए, मौत के भयानक, काले मेहराबी जबड़े से गुजर रहा है' और चुपचाप 'उजाले के चिथड़े बीन रहा है'। उसे लगता है जैसे रूह में सूराख हो गया है और 'भारतीय प्रजातन्त्र एक ढकोसला है जहाँ धीरे-धीरे सुलगते जाने का एहसास उसे है।' कहने की जरूरत नहीं है कि यहाँ अस्वीकार मानव मुक्ति और मानव नियति से संवेदना के महीन सूत्रों द्वारा जुड़ा हुआ है। श्याम परमार की इधर प्रका-

शित कविताओ मे अस्वीकार का स्वरूप वैचारिक है और उस की तर्ज बौद्धिक बातचीत की है। किसी सस्था, वाद या चिन्तन धारा से जुडे बगैर यानी उन्हे नकारते हुए हताश स्थितियो के भीतर से ही किसी मूल्यवत्ता की चिगारी को प्रज्वलित करना, अस्वीकार का ही एक स्तर है :

उजाले के लिए मैने बाहर नही देखा
आज भी नही देखूगा
देखूगा आसपास खुद अपनी आँखो से
उस के लिए अधेरा और भी गहरा हो जाए तो हो जाए
उजाला तो उस से अनिवार्य हो जायेगा
और वह निश्चय ही उसी अधेरे से फूटेगा

कवि, 'गोल चेहरे वाले सत्य' को अस्वीकारता है, क्योकि वह निरर्थक सिद्ध हो चुका है। उस के सामने सत्य का दूसरा ही-बदला-हुआ रूप है

गोल चेहरे वाले सच को कविता की भट्ठी म झोक कर
मुझे मालूम हुआ जा रहा है कि आज का सच लोहा नही है।

चन्द्रकात देवताले की कविता मे अस्वीकार ज्यादातर एक औजार के रूप मे गृहीत है, विचार के रूप म नही। अपनी अस्मिता को कुतरती हुई / राजनीति की 'दुर्गंध झेलते हुए अपनी सारी जिजीविषता को नोच कर मेज पर रख देने की बात' उन क कविता मे हैंथित है। उन की दृष्टि भी निष्क्रिय है मैं सिर्फ पत्थर आँखों से / देखता रहूँगा'। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता लुकमान अली' मे अस्वीकार को एक भिन्न सन्दर्भ दे कर विसगति का ग्रहण कराया गया है—लुकमान अली खुले गटर मे खडा हो कर राष्ट्र की सेवा कर रहा है और उसे इस बात का पता नही है।' ×× 'लुकमान अली प्रजातत्र की हडिया में महापुरुषों की डाक टिकटें सिक्के और वीरता चक्र इकट्ठे करता हुआ भीख माग रहा है / वह अगूठे मे फ्रॉकलेश्वर पहन कर / सलाम करता है।' यहाँ अस्वीकार बहुत गहरे स्तरो पर रचनाशीलता के तकाजो को पूरा करता हुआ, व्यजित हुआ है। रमेश गौड की कविताओ मे अस्वीकार का लहजा आवेशपूर्ण है—'चेहरा किस के पास है अपना—? / और जिस के पास / है /—/ वह एक ऐसी निरीह घास है / जिसे पहले एक बकरी चर रही थी / और अब बैलों की जोड़ियाँ व गऊ माताए।

दरअसल, अस्वीकार एक खतरनाक औज़ार भी है और एक रपटीला विचार भी। समसामयिक जीवन की भयावहता मानव-स्थितियो के यथार्थ और अस्तित्व-सकट की बुनियादी समस्याओ से जूझने और निपटने के लिए आज का कवि इसे औज़ार और विचार दोनो ही स्तरो पर इस्तेमाल करता है। विचार की भूमिका के बिना केवल औज़ार के रूप मे प्रयुक्त होने पर इस के भोथरे हो जाने का खतरा है।

अस्वीकार जब वैचारिक स्थिति पर टिका हुआ होगा तभी अस्तित्व-सकट की भयावह स्थितियो, मानवीय चरित्र और नियति की विसगतियो तथा गहरे कलात्मक अभिप्रायो से जुड सकता है। यानी कविता म अस्वीकार की 'टोन' या उस के 'अन्दाजेबया' का महत्त्व नही है, महत्त्व है अस्वीकार के कलात्मक रचाव के रूप मे प्रतिफलित होने का और उसके वैचारिक और सजनात्मक अथ मे सक्रान्त हो पाने का। अस्वीकार के खरे या खोटेपन की परख इसे रचनाशीलता के तकाजो के सन्दर्भ मे रख कर ही की जा सकती है।

एक कविता वर्ष से जूझते हुए

यों तो हर वर्ष काव्य इतिहास में कुछ-न कुछ महत्व का जोड जाता है, पर कुछ वर्ष अपने कृतित्व के कारण विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। सन् १९६७ ऐसा ही एक कविता-वर्ष है जिस में ३०-३५ वर्ष पुराने 'अज्ञेय' का संग्रह भी छपा है और युवा-पीढी के कई प्रमुख कवियों के कविता संग्रह भी। इन कविता-संग्रहों से गुजरते हुए यह कहा जा सकता है कि ये महत्वपूर्ण और विशिष्ट कविता-संग्रह हैं एक तो रचनात्मक अर्थ में और दूसरे इन में समकालीन परिदृश्य उभर कर सामने आता है और समकालीन कविता की एक निजी पहचान बनती नज़र आती है। कविता-संग्रह है : 'कितनी नावों में कितनी बार', माया दर्पण, देहान्त से हट कर, आत्महत्या के विरुद्ध और अपनी शताब्दी के नाम। इन कविता-संग्रहों से गुजरते हुए चलने का मतलब है समकालीन कविता की चुनौतियों से जूझते हुए चलना।

किसी भी कवि से और 'अज्ञेय' जैसे प्रतिष्ठित कवि से, विशेषत, यह आशा की जा सकती है कि उस का नया कविता-संग्रह कथ्य और शिल्प के पुराने और पिछले मुहावरे को तोड सकने में समर्थ हो और उस में नए मुहावरे की तलाश और बानगी भी हो जिस से यह पता चल सके कि कवि कथ्य में कहां और कितना मौलिक है और नए बोध को व्यक्त कर पाने की उसमें कितनी क्षमता है। किसी कवि के वास्तविक 'विकास' को समझने और पहचान पाने की यह एक प्रामाणिक विधि मानी

जा सकती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह को देखने से हम पाते हैं कि कवि 'अज्ञेय' की इन कविताओं का मुहावरा और रचना-तन्त्र पुराना हो है। 'दे रहा हूँ', 'दे दिया गया' और 'स्वेच्छा से दिए जा चुकने' का भाव इन कविताओं पर मढा हुआ प्रतीत होता है। संग्रह की अधिकांश कविताओं में यह भाव एक औपचारिक भंगिमा लिए हुए है। यह 'अज्ञेय' का कथ्यगत रूढ मुहावरा है जिसकी गिरफ्त से कवि छूट नहीं पाया है। 'समर्पित होने' या 'दे दिए जाने' का भाव यदि वस्तु-स्थितियों के भीतर से गुजर कर या विसंगतियों और त्रास को झेल कर जगा होता तो यह 'अज्ञेय' के काव्य की उपलब्धि होता। पर, हुआ यह है कि पिछले काव्य-संस्कारों और आग्रहों के एक 'आर्केटाइपल इमेज' ने उनकी रचना प्रक्रिया को दबोचा हुआ है। इस 'इमेज' की जड़ें उनकी काव्य-वस्तु और शिल्प में गहरे धँसती चली गयी हैं। 'अज्ञेय' अपने को दोहराते या 'रिपीट' करते हैं और अपने मामूली से कथ्य के इर्द-गिर्द एक 'प्रभामंडल' रचते हैं। दोहराने या रिपीट करने की यह प्रवृत्ति, कथ्य के अतिरिक्त, भाषा और शिल्प के स्तर पर भी देखी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि शुरू-शुरू में 'अज्ञेय' ने भाषा को एक नया 'तेवर' दिया था और शिल्प को एक नयी दृष्टि दी थी—अपने अभिनव प्रयोगों द्वारा। पर, बावजूद इन प्रारम्भिक अभिनव प्रयोगों के, उनके उत्तर-काव्य की भाषा और शिल्प विधि सुनिश्चित और रूढ होती गयी जिसे भटक पाने में वे असमर्थ रहे। उनके काव्य की कथ्यगत औपचारिक भंगिमा और भाषा, शिल्प-विधि की सुनिश्चितता प्रस्तुत संग्रह में लक्षित की जा सकती है। इस संग्रह की भाषा उनके पिछले संग्रह की भाषा के समान ही व्यवहार करती प्रतीत होती है। उपमानों, प्रतीकों और बिम्बों के प्रयोग और नियोजन में भी उन्होंने अपने को दोहराया है।

इन कविताओं की मूल रचनात्मक प्रवृत्ति और रचना-वृत्ति क्या है? यह जानना जरूरी है। इसे हम कुछ कविताओं के विवेचन के सन्दर्भ में जान सकते हैं। पहली कविता 'उधार' में रहस्य की धुंध व्याप्त है। कविता की भाषा इस धुंध के 'होने' को प्रमाणित करती है। कविता में फैंटेसी का विधान चूँकि सतही है अतः यहाँ सत्य का कथन मात्र है, उसका सम्प्रेषण नहीं। 'यह अपवार में जाग कर सहसा पहचानना कि जो मेरा है वही ममेतर है' महज एक कथन है। इसमें सत्य को (कि जो मेरा है वही ममेतर है) पहचानने की प्रक्रिया ही अनुपस्थित है। कविता की बनावट में जो रहस्य का पुट है उसके कारण कविता किसी मानवीय सत्य की प्रतीति नहीं होने देती। वास्तव में, 'मानवता' कवि के लिए एक अमूर्त धारणा है। 'कोई अपना नहीं कि सब अपने हैं' का अंदाज कोई मानवीय-संवेदना या मनुष्य से जुड़े होने का एहसास नहीं जगाता। इसी प्रकार 'जो निस्सग ममेतर' कविता भी रहस्य का 'प्रभामण्डल' ओढ़े हुए प्रतीत होती है। इस कविता की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

> ममता न तरणी की तीर ओर माडा
> वह डोर मैंने छोड दी—

इन पंक्तियों में 'ममता', 'तरिणी', 'तीर' और 'डोर' ऐसे शब्द हैं जो छाया-

वादी कविता मे बार-बार प्रयुक्त हुए हैं जिससे कि इनका अर्थ रूढ हो चुका है या विशिष्ट अर्थ लुप्त हो चुका है। कवि ने इन शब्दो को कोई नया अर्थ-सन्दर्भ नहीं दिया है। 'स्वाति बूंद' और 'चातक' का प्रतीकार्थ भी यहाँ इतना रूढ है कि रोमाटिक या अध्यात्मपरक अर्थ के सिवा कुछ भी पल्ले नही पडता है। एक अन्य कविता मे वे 'दर्द' की बात करते हैं और उसे अपने से भी बडा कहते हैं, पर इस दर्द का कविताओ मे न तो कोई रूप उभरता है और न ही उसका बोध जगता है।

स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' का कविता-वृत्त उनके 'निज' या 'अहं' की सीमाओ मे बद्ध है। इस पर वे रहस्य का जाल तानते हैं—एकान्त मन की गुहाओ का रहस्य-जाल जिस पर वे व्यक्ति और समाज, मम और ममेतर का सैद्धान्तिक खोल ओढाते हैं और मानवता के साथ जुड़े होने का 'भ्रम' पैदा करने की कोशिश करते हैं। पर, इस कोशिश के बावजूद, यह 'भ्रम' या 'तिलिस्म' टूट जाता है। भाषा उनकी कलई खोल देती है।

कवि की राष्ट्र और युद्ध के सन्दर्भ मे रचित कविताएं अधिक मूल्यवान हैं। 'अन्धकार म जागने वाले' कविता ही लें। इसमे अकेलेपन और मामूलियत की सवेदना-सन्दर्भच्युत नही है—'अन्धकार म जागने वाले सभी अकेले होते हैं'। इसमे मूल्य-निष्ठा और उदात्त-सकल्प का बोध भी असन्दर्भित नही है, भले ही यह भावुक अर्थ-व्यजनाएँ देता हो

> और मेरी मामूलियत एक सामर्थ्य, एक गौरव
> एक सकल्प म बदल जाती है
> जिसमे मैं करोडो का साथी हूं।
> रात फिर भी होगी या हो सकती है
> पर मैं जानता हूं कि भोर होगा
> और उसमे हम सब
> सकल्प से बँधे, सामर्थ्य से भरे और एक गौरव से
> घिरे हुए हम सब
> अपने उन कामो में जमे होंगे
> जिन में हम जीते हैं
> जिन से हमारा देश पलता है
> जिन से हमारा राष्ट्र रूप लेता है
> वयस्क, स्वाधीन, सबल, प्रतिमा-मडित, अमर
> और हमारी ही तरह अकेला—क्योंकि अद्वितीय"

यहाँ कवि ने राष्ट्र के यथार्थ चित्रण के साथ, राष्ट्र के सामूहिक सकल्प को भी मानसिक स्तर पर सक्रान्त किया है।

राष्ट्र और युद्ध के सन्दर्भो मे रचित ऐसी कविताओ के अलावा, सग्रह की अन्य कविताएँ समकालीन सन्दर्भो से, प्राय, कटी हुई हैं। इन कविताओ मे न तो सम-

कालीनता का बोध है और न ही आधुनिक-बोध। भाव-बोध के स्तर पर ये कविताएँ रोमानी हैं। इनमें केवल अज्ञेय-बोध है—'अज्ञेय' का 'निज' का बोध जिसे 'पर' का बनाने या दिखाने के लिए वे शुरू से ही कौशल दिखाते रहे हैं।

'अज्ञेय' के काव्य में संश्लिष्टता का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। इससे उनकी कविताओं में एक आन्तरिक सहिति आई है। पर, यह रचनात्मक धर्म के दबाव के कारण उतनी नहीं है जितनी की व्यवस्था प्रियता के 'क्लासिकल' गुण के फलस्वरूप। इस एक क्लासिकल प्रवृत्ति के अलावा अज्ञेय की सौंदर्य-दृष्टि रोमांटिक और आधुनिक है। उन्होंने शिल्प स्तर पर निश्चय ही अपनी प्रायोगिक क्षमता का परिचय दिया है। पर, उनके काव्य का शिल्प उत्तरोत्तर एक लीक एक पैटर्न बनता गया है। प्रस्तुत संग्रह में प्रतीकों बिम्बों और उपमानों के विधान में भी वे स्वनिर्मित लीक से *अलग नहीं हट सके हैं। होने का सागर कविता में पुराने अर्थ सन्दर्भों में ही प्रतीकों* का प्रयोग किया गया है। काच के पीछे मछलियाँ कविता में भी काच और 'मछली' जैसे प्रतीक शब्दों को कोई नया सन्दर्भ नहीं दिया गया है। परम्परागत रूपक-शैली में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द किसी नयी अर्थवत्ता से संयुक्त नहीं हो पाए हैं।

'अज्ञेय' के काव्य संग्रह की कविताओं के समानान्तर रख कर जब श्रीकान्त वर्मा की कविताओं (मायादर्पण) को देखते हैं तो पाते हैं कि एक ही वर्ष में प्रकाशित इन दो कवियों की दृष्टि में दो कविता युगों का अन्तर है—भाषा और संवेदना के स्तर पर। 'अज्ञेय' जहाँ २५ वर्षों के अन्तराल के बाद भी तार सप्तक के प्रकाशन-वर्ष में पाँव जमाए खड़े हैं वहाँ श्रीकान्त वर्मा २५ वर्षों की कविता-यात्रा के बाद के अगले पड़ाव को सूचित करते हैं। 'अज्ञेय' की कविताएँ जहाँ सनातन भाव-बोध की मुद्रा में हैं वहाँ श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ समकालीनता-बोध को व्यक्त करती हैं। 'अज्ञेय' के काव्य में—वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर, एक औपचारिक भंगिमा है, श्रीकान्त के काव्य में यह भंगिमा नितान्त अनौपचारिक है। 'अज्ञेय' के काव्य में क्लासिकल बिम्ब की अद्भुत संश्लिष्टता है, पर श्रीकान्त की कविता की बुनावट में एक जबरदस्त रचनात्मक लापरवाही है। 'अज्ञेय' की भाषा विशेष, गढ़ी हुई और कुछेक स्थलों पर बिम्बात्मक है पर श्रीकान्त की भाषा एक साथ बिम्ब-धर्मी और सपाट है। *वास्तव में, अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा की रचना-दृष्टि में मौलिक* भिन्नता है। श्रीकान्त तो कवि-कर्म को ही (निर्धारित अर्थ में) नकारते हैं

मुझे कवि मत कहो
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ

इस दृष्टि के पीछे कवि का आक्रोश और घृणा भाव है जो उसमें पैदा हुआ है सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सन्दर्भों में। उसके पास तो बस 'कुछ कुत्ता

दिनो की छायाएँ' और 'बिल्ली रातो के अन्दाज हैं'। यहाँ 'कुत्ता' और 'बिल्ली' *सज्ञाओ को विशेषणपरक बिम्बो के रूप मे प्रयुक्त करके अर्थहीनता और त्रास के* अनुभव को प्रेषणीय बनाया गया है। सभी कुछ भुलाया जा चुका है—धास भी ? प्रेम भी ? कुछ भी न कर पाने का एहसास है व्यक्ति को और उसकी आँखो मे आँखें डाले बैठा हुआ है एक बियाबान (तावीज)। सम्बन्ध है तो केवल अपरिचय का (युगल) और सार्थक होने की हर कोशिश निष्फल हो जाती है (निष्फल) और प्रेम जैसी उदात्त भावना और अधिक अकेला कर जाने के सिवा कुछ नही दे जाती (एक और ढग)। कवि जीना चाहता है, महुए के वन म एक कण्डे सा सुलगना, गँगुवाना और धुधवाना चाहता है। 'घर-धाम' मे एक मूल्यगत आकांक्षा है :

सारे ससार की सभ्यताएँ दिन गिन रही है
क्या मैं भी दिन गिनू

वह चीख कर, चिल्ला कर एहसास दिलाना चाहता है स्वय को कि वह जीवित है

मैं न जाने किस कन्दरा मे
जा कर चिल्लाता हूँ मैं
हो रहा हूँ। मैं
हो रहा हूँ

पर वह पाता है कि आज की स्थिति म वह कुछ नही कर सकता। केवल क्षय करता है वह, कुछ भी तय नही कर पाता। पिछले 'मोह' और 'भ्रम' भग हो चुके हैं, सांस्कृतिक 'मिथें' टूट चुकी है और आज की 'वैक्यूम' स्थितियो मे

निढाल हो
अकेले
सूली पर चढ जाना।
अर्थ नही पाना (तन्य बोध)

वर्तमान अस्तित्व सकट की पगु स्वीकृति है इन पक्तियो मे। मया स्थितियो को अस्वीकारने वाला विद्रोहपूर्ण स्वर इन कविताओं म कही नही है। कही-कही मैंन व्यग्य अवश्य किए है। (दिनारभ, नकली कवियों की वसुन्धरा, क्रान्ति और लोकतत्र आदि कविताएँ) पर जिजीविषा और अस्तित्वबोध की छटपटाहट व्यजित करने वाली ये कविताएँ नहीं है। निराशा और त्रास की मन स्थितिया म-से गुजरते हुए भी व्यक्ति जीना चाहता है। मुक्ति की आकांक्षा अभी मरी नहीं है। मूल्य-बोध के स्तर पर श्रीकान्त की कविताओ म वस्तु स्थितियो का चित्रण 'मिनिमिज्म' की हद तक है। इन स्थितियो को पेश करने मे जान-बूझ कर एव लापरवाही बरती गयी है। लापरवाही *के अन्दाज म स्थितियो का विषम और असंगत सयोजन करने से विसगतियो के* तटस्थ चित्रण मे कभीकभी सहायता मिली है। यह बात और है कि इससे रचना की 'आरगेनिक' एकता कई स्थलो पर खडित हुई है और कही-कही कविताएँ सूचनाओ

का पुंज बनकर रह गयी हैं ('घर से निकल कर', 'समझ में न आने वाला दिन', 'दिनचर्या')।

श्रीकान्त की कविताएँ समकालीन जीवन और वर्तमान परिवेश में पड़े हुए व्यक्ति की त्रासदी को उभारती हैं। इन कविताओं के मूल में मध्यवर्गीय हताशा है। समकालीन सन्दर्भों से उपजी दमघोटू परिस्थितियों में व्यक्ति को बेहयाई, ऊब, सन्ताप और त्रास के जो अनुभव होते हैं—वे ही इन कविताओं का संसार हैं। 'प्रेम' का बिम्ब अपने म्यान में सिमट चुका है और अब ऐसे सम्बन्धों में भी बेहयाई इस कदर है :

बाध्य हैं हम दोनों
एक दूसरे से घृणा
करते हुए
करने को प्यार।

और कवि को एहसास है 'हरेक की नियति ही यही है कि कमाई और उसे खर्च करे।' हरेक के साथ शतरंज खेलता है वह और उसकी आत्मा के सुराख में त्रास घुसा हुआ है—

सारा संसार अपने कामों में
फँसाये अपनी उँगलियाँ
उधेड़बुन करता है
डरता है मुझ से
मेरा पड़ोस

कवि अच्छी तरह से जानता है कि किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता। उसमें एक अन्धे की तरह पैरों की आहट सुनने का उत्साह अब नहीं रह गया है क्योंकि वह जान गया है कि पाने की विकलता और न पाने का दुख दोनों अर्थहीन हैं (समाधि-लेख)। इस अर्थहीनता के बोध की अभिव्यक्ति इन कविताओं में है :

एक आदमी दूसरे का और दूसरा तीसरे का दहेज है
जिसकी वाणी में आज तेज है
दस साल बाद
वह इस तरह लौट आता है
जैसे किसी वेश्या के कोठे से
अपने को बुझा कर

(समाधि लेख)

कवि की राजनीतिक चेतना अत्यन्त तीखी है। राजनीतिक संस्थाओं के प्रति इन कविताओं में तीव्र घृणा का भाव है।

कवि ने राष्ट्र का गौरव-गान करने वाले और राष्ट्र के प्रति भक्ति समर्पित करने वाले कवियों पर करारे और तीखे व्यंग्य किये हैं—नकली कवियों की वसुंधरा कविता में, यह बात और है कि इन कविताओं में पूरे राष्ट्र का नक्शा नहीं है।

इन कविताओं की भाषा, शिल्प-दृष्टि और लय बिलकुल भिन्न किस्म की है—ताज़ी और नयी। भाषा की प्रकृति यहां बिल्कुल बदली हुई है। भाषा यहां स्वत 'व्यवहार' करती है और अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच कोई फासला नहीं आने देती। ऐसे यह कथ्य और अभिव्यक्ति को जीवन्तता देती है। भाषा का सहज़ा यहाँ निहायत अकृत्रिम और अनौपचारिक है। भाषा मे सपाटबयानी भी है और बिम्बों और प्रतीकों का अछूता सौन्दर्य भी। श्रीकान्त वर्मा की कविताओं का लय विधान विशेष तौर से चर्चा का विषय रहा है। डिलन टामस की तरह उन्होंने तुकों का प्रयोग किया है जिससे कि कविता के बीच-बीच मे इम्प्रेशन बदलता चलता है। कभी-कभी श्रीकान्त के इस तुक के आग्रह के कारण कविता हास्यास्पद भी हो गयी है। इस वजह से ही 'मेरा बायाँ हाथ' की रचना शिथिल है। 'ज़ूम' कविता मे भी लय का सिर्फ प्रयोग-कौतुक है।

कैलाश वाजपेयी की कविताएं (देहान्त से हट कर) श्रीकान्त की कविताओं के समान समकालीनता-बोध से जुड़ी हुई हैं। कैलाश वाजपेयी ने इस बोध को एक भिन्न कोण से, दूसरे स्तर पर, अभिव्यक्त किया है। समकालीनता का दबाव दोनों पर है, पर दोनों अपनी अपनी विशिष्ट रचना-दृष्टि, रचना-प्रवृत्ति, भाषा-शैली और शिल्प के अनुरूप इस दबाव को रचनात्मक धरातल पर सहते और रूपायित करते हैं। श्रीकान्त वर्मा जहां प्रत्यक्ष अनुभवों को बेपरवाह ढंग से काव्य-प्रक्रिया में धकेल देते हैं और उन्हें रूप पाने देते हैं, वहां कैलाश वाजपेयी अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान स्थितियों को सायास जोड़ते चलते हैं। वे स्थितियों को जहां बिम्बों के रूप में उठाते हैं, वहां सारी कविता बिम्बों के टाकों का एक सिलसिला प्रतीत होती है। देहान्त से हट कर की पहली कविता 'विवर प्राण ही लें'। इस कविता मे संवेदना के टुकडे खंडित बिम्ब-विधान की बैसाखियों के सहारे खड़े हैं। अलग अलग बिम्ब संवेदना के विभिन्न स्तरों को सूचित करते हैं। इस कविता मे तनाव और मृत्यु-बोध की अभिव्यक्ति का एक बिम्ब-स्तर इस प्रकार है :

> एक नई नस रोज तनना शुरू करती है
> और टूटने तक चढ़ती चली जाती है
> आदमी आदमी के बीच एक कब्र है
> और यह कब्र बढ़ती चली जाती है

पर इस कविता मे न तो संवेदना की प्रगाढ़ता है और न ही बिम्बों का अन्योन्याश्रित तारतम्य। इस कविता की 'टोन' मे जो रेटरिक और बयानबाजी है वह इसके बोध की प्रामाणिकता के सामने प्रश्नचिह्न लगा देती है। इस संग्रह की अच्छी-भली कविताएँ इस बयानबाज़ी और रेहटरिक के कारण अपना मूल्य खो बैठी हैं। स्नायुघात कविता विघटित सम्बन्धों, व्यर्थता बोध और ऊब को उद्घाटित करती है। कविता की यह पंक्ति 'सून की गन शन के नीचे निस्तेज बियाबान है', अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से आज की विघटित मानसिकता को व्यक्त करती है।

पर संग्रह के पृष्ठ ७-८ पर जो व्याख्याए दी गई हैं वे कविता के 'स्वरूप' को उभरने नही देती हैं। इसी प्रकार 'दैत्य दर्शन' कविता की अन्तिम चार पक्तिया 'विचार' की केवल व्याख्या हैं। कविता तो वही समाप्त हो जाती है जहा कवि कहता है—

भीतर कही एक लोथ है
जिसमे विचार दौडता है

कैलाश की कविताओ की पद-रचना और शब्दो और पक्तियो की आवृत्तियो मे भी बयानबाजी और 'रेटारिक' के प्रभाव को देखा जा सकता है।

कैलाश वाजपेयी की ये कविताएं एक सवेदनशील बौद्धिक व्यक्ति की अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रियाए हैं। परिवेश की गहरी चेतना कैलाश मे है। उनकी कविताओ मे राष्ट्रव्यापी 'कान्फ्यूजन' को अभिव्यक्ति मिली है। देश की वर्तमान दुर्दशा जहा नेताओ की 'भूसा स्पीचें होती हैं (देश-एक शोकगीत) और राजनीतिक दाव-पेंच मे साधारण जनता का शोषण गणतन्त्र (जिसे कवि एक 'बीमार गाय' कहता है) जैसी आदर्श शासन पद्धति का विघटन, आदि का ही चित्रण इन कविताओ मे नही है, इनमे व्यवस्था के पाषाण तले दम तोड रहे मामूली आदमी की बेचैनी, व्यथा और निरुपायता का भी चित्रण है जो महसूस करता है स्वय को 'एक नमकीन बूद सामूहिक दाह मे (गणतन्त्र)। व्यवस्था का किला हर हत्या के बाद और अधिक ऊचा हो जाता है (दहशत)। ऐसी व्यवस्था के सामने कवि को लगता है 'मर जाना ठीक है शायद मर जाता हूं (मैं-देश) राजनीतिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों से सम्पन्न इन कविताओ मे देश का एक बिलकुल भिन्न स्वरूप उभरता है। देश की बाह्य परिस्थितियो का कोरा चित्रण यहा नही है। यहा तो देश की बाह्य वास्तविकता को अन्तर रूपान्तरित करके मूल्य-स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है। कवि का अनुभव-ससार इस राजनीतिक चेतना की पीठिका पर ही आसीन है। इन कविताओ मे जो तीव्र आत्मग्लानि का स्वर है, वह गलित और गर्हित परिस्थितियों के कारण ही उपजा है। 'तेजाबी रोशनी और खोखली आवाजो के ठहरे सैलाब मे व्यक्ति अपने पूरे भाव जगत के साथ यन्त्र-ठुके पीपे मे बदल गया है (मुगनद्ध)। विमुक्त शती के लोग 'पशु परिस्थितियो मे जी रहे हैं जहा व्यक्ति सत्ता से नफरत भी करता है और समझौता भी' (विमुक्त शती के लोगों से) वर्तमान 'भेड़िया सस्कृति' और 'सूअर सभ्यता' मे व्यक्ति या तो मरने को बदा है या फिर दात पैने करने और खाल ओढने को (शल्प चिकित्सा) इस सभ्य व्यवस्था मे उसे त्रासकारी अनुभव होते हैं -

एक सभ्य प्रेत
हर सुबह मेरे फेफड़े दबाता है
दबाता चला जाता है
(जैसे मैं कोई लाश हूं) (दहशत)

जीते जी मृत्यु की यह तीव्र संवेदना मानवीय अस्तित्व संकट की भयावहता का बोध कराती है। अस्तित्व-संकट की इस भयावह स्थिति को कवि ने, मुख्यत व्यंग्य द्वारा उभारने की कोशिश की है। व्यंग्य के स्तर पर ही स्थितियों के प्रति कवि के रुख का पता चलता है।

इस संग्रह में कुछ कविताएँ निश्चय ही भरती की हैं—व्याहत सुबह के अन्धेरे में, एक और साधारणीकरण, मोनमर्ग, मानुषी, पिस्सू घाटी पर, एक खबर, सिक्ता-मंथन, समुद्र अवचेतना-दृष्टि, विरोध, पालक के प्रति, गोरखधन्धा और बहुत सी छोटी कविताएँ बेहद सामान्य स्तर की हैं जिनमें उलझाव है या विस्तार है या सूचनाएँ हैं।

श्रीकान्त वर्मा और कैलाश वाजपेयी की कविताओं से बिल्कुल भिन्न तर्ज और मुहावरे में हैं रघुवीर सहाय की कविताएँ (आत्महत्या के विरुद्ध)। कविता के मान्य अर्थ में शायद इन्हें कविताएँ न माना जाए। न माना जाय तो न सही, कवि कहता ही है

न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही

(फिल्म के बाद चीख)

इन कविताओं का सन्दर्भ राजनीतिक है। इसी सन्दर्भ में कवि अपनी एक मूर्ति बनाता है और ढहाता है। लोग खण्डन चाहते हैं या मण्डन या फिर केवल अनुवाद लिसलिसाता भक्ति से। स्वाधीनता महज चौंकाती है—

स्वाधीन इस देश में 'चौंकते हैं लोग
एक स्वाधीन व्यक्ति से

(स्वाधीन व्यक्ति)

कवि को लगता है कि अगले कुछ वर्षों में अत्याचार और भी अनायास होगा, विद्रोह और नाइयां और जिन्दा रहने के लिए जान-बूझ कर चीखना जरूरी होगा। इन कविताओं में सामयिक राजनीति के विवरणों के साथ-साथ, राजनीतिक आग्रह स्पष्ट हैं (भीड़ में मैं और मैं)। सामयिक राजनीति के दबाव के कारण ही यहां स्थितियों के ब्यौरे मात्र हैं।

इन कविताओं में कविता के परम्परागत स्वरूप, आन्तरिक अनुशासन, और संगठन को भाषा, शिल्प और कविता की बुनावट के स्तर पर तोड़ने की कोशिश की गयी है। इन कविताओं का बदला हुआ मुहावरा अभिव्यक्ति की छटपटाहट तो सूचित करता है पर कविताओं में यह मुहावरा सर्जनात्मक रूप नहीं पा सका है। यह अभिव्यक्ति-रूप कथ्य के सम्प्रेषण में सहायक नहीं है। इनमें कवि की कतिपय धारणाएँ और वक्तव्य हैं। अधिकांश कविताओं में, पत्रकारिता के स्तर पर, सामान्य कथन हैं या सूचनाएं दी गई हैं।

इन कविताओं में सामान्य शब्दों का प्रयोग है। इन शब्दों में निहित ध्वनि यहाँ स्फुट नहीं हो पायी है। प्रस्तुत शब्द किसी नए अर्थ सन्दर्भ से स्फूर्त नहीं हैं। कहीं-कहीं तेज व्यंग्य अवश्य हैं। भाषा प्रायः 'लोग लोग भार तमाम लोग' के ढंग की सीधी और सपाट है।

दूधनाथसिंह भी कविता की दकियानूस और परम्परागत धारणा को नकारते हैं पर वे रहते कविता की जमीन पर ही हैं। उनकी कविता की नूतन परिकल्पना के पीछे परिवर्तित भाव-बोध हैं

> यह वो कविता नहीं है
> यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है
> यह कोई रस नहीं
> जहर है—जहर

इस रचना-दृष्टि के कारण ये कविताएँ बोध के स्तर पर पिछली कविताओं से अलग जा पड़ती हैं। कैलाश और श्रीकान्त में जहाँ व्यक्ति के अकेलेपन के बोध और मृत्यु-सत्रास का चित्रण है वहाँ दूधनाथसिंह के काव्य में (अपनी शताब्दी के नाम) अकेले न हो पाने की करुण नियति का, भारतीय मानस में व्याप्त 'केआँस' के सन्दर्भ में चित्रण है। यह सही है कि इस 'केआँस' और इसमें पड़े हुए व्यक्ति की करुण-नियति का चित्रण संग्रह की कुछेक कविताओं में ही है। 'यह रस नहीं, जहर है,' 'छब्बीसवीं वर्षगाँठ पर', 'मृत्यु', 'उठो न ! ए सुबह', 'जन्म', 'हम मेरी धरती', आदि कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भारतीय मानस के अनुभव में व्याप्त 'केआस' और 'फ्रास्ट्रेशन' की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कुछ सत्ताधारी हैं जो हमारी छातियाँ पोली कर देते हैं, फिर इन्जेक्ट करते हैं। हमारी हड्डियों में छेद कर देते हैं, फिर उस पर प्लास्टर बाँधते हैं। वे अकेले कमरों में बिजली के कोड़े सटकारते हैं और बाहर गले मिल लेते हैं। वे क्रूर और आदिम हैं, अत्याचारी और नरभक्षी हैं। और सारी की सारी जनता सूखे काठ के मानिन्द खड़ी है मुँहबाये और उसके लहू की एक-एक बूँद मुफ्त में तुल सी जाती है। एक सन्नाटा है और इसी में कवियों और कलाकारों के लिए सेनेटोरियम खुल रहे हैं, सन्तों और महात्माओं के लिए पागलखाने और अर्द्ध विक्षिप्तों के लिए राजगद्दियाँ। कवि को लगता है जैसे वह 'अंधियारे के शून्य में बाँहें फैलाए, मौत के भयानक, काले मेहराबी जबड़े से गुजर रहा है' और 'चुपचाप उजाले के चिथड़े बीन रहा है।' मृत्यु के सत्रास और बोध की इससे अधिक प्रामाणिक अभिव्यक्ति क्या हो सकती है ? इन पंक्तियों में गहरी मानवीय सम्पृक्ति है और इसी अर्थ में कवि अकेला नहीं हो पाता है। उसे लगता है जैसे देश में मुहर्रम हो गया है और भारतीय प्रजातन्त्र एक ढकोसला है जहाँ धीरे-धीरे मुलम्मे जाने का एहतमाम जारी है। 'हम मेरी धरती' में इस एहतमाम की, अत्यन्त तीखे व्यंग्य के जरिये, गहरे स्तर पर अभिव्यक्ति है। सभी कुछ टूट चुका है। जिन्दगी के नाम पर सिर्फ एक चीख बची है .

जिन्दगी के नाम पर एक चीख—
हम जिन्दा हैं, जियेंगे। भीतर एक चिता चूर-चूर
उठो न। मैं हूं, अकेला वहा हूं

(उठो न। ए सुबह)

यह चीख जिन्दगी की, जिजीविषा की चीख है। इन कविताओं का भाव-बोध और मूल्य बोध नितान्त आधुनिक है। हां कई स्थलों पर इन कविताओं की भाषा पुरानी है, 'टोन' और मुद्रा रोमेंटिक। संग्रह के शुरू की बहुत सी कविताओं और कुछ अन्य मूल्यवान कविताओं में भाषा की बन्दिश पुरानी और मुद्रा रोमेंटिक है। इस कमी को पूरा करने की कोशिश करती है उनकी विशेषणपरक सौन्दर्यात्मक भाषा। नन्हे-नन्हे विशेषणों या विशेषण निर्भर बिम्बों के द्वारा कवि ने अनुभव सम्प्रेषित किए हैं। 'अधी उदासी' भेड़िया हिफाजत, हुक्ते बारह झकोरे, बिछुड़ी बादल, प्राशु नयन, रेशमी लिबास और खुद्दार दिल, ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं।

सन् ६७ की कविता से जूझते हुए इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह कविता लम्बी छलांगें लगा कर 'अज्ञेय' और अज्ञेय-दल के कवियों से बहुत आगे बढ़ आई है। श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, दूधनाथसिंह का काव्य समकालीन संदर्भों से जुड़ा हुआ है। इन में आधुनिकता से संश्लिष्ट होने की चेष्टा लक्षित की जा सकती है। राष्ट्रीय और राजनीतिक परिवेश की चेतना के विभिन्न स्तर इनके काव्य में है। अस्तित्व-संकट की गहरी संवेदना भी इन कवियों में है। लापरवाह ढंग से कथन की प्रवृत्ति सभी में समान रूप से भले न हो, एक अनौपचारिक भंगिमा और भाषा शिल्प का अन्तर रूपान्तर, प्रायः सभी में मिलेगा। पर इन कविताओं से कुछेक खतरों की भी आशंका है। एक, कविता कहीं सामयिक बोध की अभिव्यक्ति मात्र न रह जाय। कला की मांग है कि सामयिक बोध आधुनिक बोध में संक्रान्त हो। दूसरे, कविता में एक अजीब 'सिनिसिज्म' की प्रवृत्ति पनप रही है जो कविता और जीवन दोनों को झुठलाने पर तुली है। तीसरा खतरा है कविता को पत्रकारिता के स्तर पर ले आने और कविता में वक्तव्य देने का। ऐसी कविताओं में भाषा एकदम सपाट हो जाती है, मुहावरा सूचनात्मक या प्रवचनात्मक बन जाता है और शिल्पहीनता काव्यहीनता की हद छूने लगती है। चौथे, काव्य-भाषा में 'रेटरिक' और बयानबाजी के तत्त्व आ रहे हैं जो कविता के लिए घातक हैं। इस से कविता में अनावश्यक विस्तार और छद्म आया है।

विकल्प का संकट और तनावपूर्ण मुहावरा

आज की कविता समकालीन सकट से जुड़ी हुई कविता है। जीने की शर्त और सार्थकता के प्रश्नो ने मनुष्य को जिन चुनौतियो और अस्तित्व की खौलती हुई बेलौस स्थितियो से भिड़ा दिया है, उन्ही से यह सकट पैदा हुआ है जो आज के प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति का सकट है। यह बाहर का ही नही, भीतर का भी सकट है बल्कि बाहर के सदर्भ मे भीतर का ही सकट है रोज सीढ़िया उतरता हू मगर नरक खतम नहीं होता। इस सकट की अभिव्यक्ति कविता मे कई रुपो और स्तरो पर होती रही है और आज भी इसे कविता के धरातल पर पहचानने की कोशिश जारी है। लीलाधर जगूडी की कविताएँ (कविता-सग्रह नाटक जारी है) सकट की महज जानकारी देने के बजाय, सकट की पहचान कराने वाली कविताएँ हैं।

इन कविताओ म जगूडी ने आज के मनुष्य की हालत और उसके सकट की अभिव्यक्ति मध्यवर्ग के एक घरेलू, औसत आदमी के चरित्र और मानसिकता को ध्यान मे रखकर की है। यह आदमी कुटम्बधारी गिवाहता हुआ मामूली घरेलू आदमी है जो घाव और पीड़ा ढो रहा है, जिसके लिए घर सबसे बडा बोझ हो गया है, अपने को तोडने के अलावा जिसके पास कोई नारा नहीं है और आज़ादी के बाद देश भक्ति जिसके कधे से सिर टिकाकर सो गई है। यह हर तरह की नैतिकता और राजनीति के विरुद्ध हो गया है। आम आदमी की स्थिति तुच्छ और निरीह हो चुकी है: 'कूटकर जो अलग रख दिया गया / और जो बेहद किचर मिचर है / मैं उसे जहा से

भी उठाता हूँ / नाटक से बाहर निकालने के लिए / यह वहीं सा खिसक जाता है / इसकी कोई तस्वीर नहीं बन सकती / यह आम आदमी का सिर है। इस आम आदमी की हालत के लिए कवि ने व्यवस्था और शोषण की पद्धतियों को जिम्मेदार ठहराया है मैं भी तुम्हारे साथ उसी जबड़े मे हूँ / जहा एक चढ़ाता है और दूसरा उतारता है / दांत के नीचे।

यह आम आदमी ही इन कविताओं की धुरी है। इस आदमी की भ्रष्ट और विघटित स्थिति से ही इन कविताओं का प्राथमिक बोध और रचना सम्भव हो सकी है। पेट और प्रजातन्त्र के बीच यह आदमी दरार की तरह खड़ा है। प्रश्न हो सकता है कि क्या कवि को स्थिति का मात्र चित्रण अभीष्ट है ? क्या स्थिति कवि के लिए 'चरम' या 'अन्त्य' है या उसके प्रति प्रतिरोधात्मक रुख या नजरिया भी है ? इस सम्बन्ध मे कवि की दृष्टि दुविधापूर्ण और परस्पर विरोधी है। एक ओर प्रतिरोध और सघर्ष का रूप है : अमर्यादित होना / पाप मुक्ति के लिए / अनिवार्य प्रार्थना है या लेकिन अमर्यादित होना / फिर से सही होने के लिए अनिवार्य प्रार्थना है तो दूसरी ओर सघर्ष की भाषा मे बड़बड़ाना है जो ■ क्रान्ति होता है/तनजरिया न विचार, एक ओर कवि की व्यवस्था को तोड़ने की छट पटाहट है किस जगह से उधेड़ूँ यह व्यवस्था। किस तरह तोड़ूँ कुछ / कि खंडित भाषा एव आवृत्ति बने तो दूसरी ओर उदासीनता और पराजित भाव. ये सब खतम करो। और यों ही पड़ा रहने दो / चरित्र। समाज और खाली गिलास, एक ओर क्रान्ति मे विश्वास है तो दूसरी ओर मूक कायर की भूमिका। प्रतिरोध और पराजय के इन परस्पर-विरोधी रूपों के कारण कवि का कोई 'स्टैंड' नही बन पाता। इसका एक मुख्य कारण है कवि द्वारा चालू मुहावरों में रचना करने की सुविधा का उपयोग। जगूड़ी की कविताएँ, चालू मुहावरों के कारण ही एक-सा प्रभाव नहीं छोड़ती या उनसे कविता का अपना एक माहौल अवरुद्ध हो जाता है। इनसे स्थितियों की विसगति और विडम्बना की अभिव्यक्ति मे बाधा पड़ी है। कवि जहा कहीं इन मुहावरों से मुक्त हुआ है, विसगति या विडम्बना उजागर हुई है : तो फिर आओ / तमाम चीजों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र लिखें / और प्रमाण-पत्र दिखा दिखाकर बिकें।

कवि जब स्थितियों के प्रति अपना सरोकार बतलाने के लिए एक ठोस राज-नीतिक, आर्थिक और सामाजिक सदर्भ के प्रति सम्बोधित हो जाता है। (मुझे ज्ञान ने नहीं निर्वाचन ने मारा है × × × मुझे जन्म नहीं नौकरी बदलेगी) तो उसके लिए काव्य-रचना के दो ही रास्ते रह जाते हैं। एक यह कि परिवेश के दबाव को रचनात्मक स्तरों पर न सह पाने के कारण सीधी-सीधी बड़बोली अभिव्यक्ति या नितान्त निजी ढग का उत्तेजक मुहावरा। दूसरे यह कि परिवेश की भ्रष्टता का गहरे वैचारिक स्तरों पर विरोध और उससे उत्पन्न मानसिक सवेदनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति। इन दोनों रास्तों के अपने-अपने खतरे हैं। जगूड़ी ने दूसरे

रास्ते को अपनाया है और धारणाओं, सामान्यीकरणों में उलझ जाने का खतरा उठाया है।

इन कविताओं के रचनातंत्र पर बात करना भी जरूरी है। इस संग्रह की १५ कविताओं में से अधिकांश कविताएँ लम्बी हैं। लगता है लम्बी कविता जगूड़ी के लिए एक काव्यगत अनिवार्यता है। उनकी काव्य-संवेदना अनेक संदर्भों प्रसंगों को समेटती हुई, काटती-पीटती और रूपान्तरित करती हुई चलती है और कविता अनायास लम्बी हो जाती है। ये जबरन विस्तार पाई हुई लम्बी कविताएँ नहीं हैं बल्कि इनमें गहरा सर्जनात्मक आवेग है। कवि ने लम्बी कविता लिखने की अपनी एक खास शैली विकसित की है, इसमें सन्देह नहीं। इन लम्बी कविताओं के बारे में जो सवाल उठता है वह इनके खास रचनात्मक तरीके का सवाल है। पहली बात जिसकी ओर ध्यान जाता है वह है इन कविताओं के विन्यास में तुक-प्रयोग। तुक के प्रति अतिरिक्त मोह और आग्रह के कारण इन कविताओं में अनावश्यक चमक और उत्तेजना पैदा हुई है भाषा के पीछे शब्दों को दौड़ाता रहता हूँ / सांड की तरह / कर्म मैं भी करता हूँ / कांड की तरह। इस तरह की तुकों का प्रयोग जगूड़ी की लगभग प्रत्येक कविता में सुनिश्चित ढर्रे के रूप में हुआ है। उनकी अन्य युक्ति यह है कि वे कविता के वाक्य-विन्यास में दो मुहावरे दिखने वाली पंक्तियों के बीच तीन चार पंक्तियाँ रख देते हैं जैसे 'कुछ लोग देश को गलत समझते हैं और 'सारे देश को गलत समझते हैं' के बीचो-बीच वे चार पंक्तियाँ रख देते हैं अपनी क्यारी का घेरा / पड़ोस की तितली का फेरा / अवस्था की घास / उखड़ी हुई कीलें/उपाय मांगती / धँसती / उग आयी / घुस आयी / आस पास। कवि दो धारणात्मक पंक्तियों के बीच में दो या चार या छः पंक्तियाँ रख देता है जो धारणा के स्तर पर सोचने वाले की वास्तविक विडम्बनापूर्ण स्थिति को उजागर कर देती हैं। एक अन्य बात भाषा के सम्बन्ध में— कवि की भाषा में एक प्रतीकात्मक 'कर्व' है जिससे आतीत संस्कारों के अवशेष स्मृति-बिम्बों को उकसाते हैं. अच्छा लगता है पत्तों का अचानक झरना ? अँधेरे में कुँवारी कोंपलों का भरना ? रोशनी की नयी नयी टहनियों पर / स्याह पंछी का बैठना ? अच्छा लगता है एक मरे हुए साँप को लेकर बीन का बजना ? जगूड़ी भाषा को उसके अपने व्यवहार में dislocate या distort नहीं होने देते। वे उसे शिल्प-साधना से dislocate या distort करते हैं। यही कारण है कि कवि के समानान्तर, भाषा को नए सिरे से सर्जनात्मक रूप में व्यवहार करता हुआ नहीं दिखा सका है।

जगूड़ी की कविताएँ अनुभव (वाद) की कविताएँ नहीं हैं। इनमें अनुभूति का रोमानी, भावुक रूप नहीं है। इन अनुभूति को विचार ने परिभाषित और विश्लेषित किया है जिससे अनुभूति के नए 'पैटर्न' बने हैं। बाह्य यथार्थ से सीधे-सीधे टकराने और अन्तर्संघर्ष से उनकी संगति-असंगति की खोज के सिलसिले में अनुभूति और विचार का जो बदला हुआ रिश्ता जरूरी है वह इन कविताओं

मे है। इनम व्यवस्था का विरोध, भावात्मक या उत्तेजक मुहावरे मे न होकर ऐसे विचार पर टिका है जिससे मानव स्थितियों का बोध हो सके और उस विकल्प की ओर इशारा भी जो स्थितियों के आमने-सामने होने पर बचता है, क्योंकि हर मकसद के बाद/खामोश आदमी का संकट समझ का नहीं/विकल्प का है।

× × ×

जगदीश चतुर्वेदी के कविता-संग्रह—इतिहासहंता की कविताओं के सम्बन्ध मे सरलतापूर्वक कुछ भी कह पाना कठिन है। कवि की रचना-प्रवृत्ति को जानने के लिए कवि के रचना संसार को जांचना जरूरी है। इन कविताओं को पहली नजर मे देखने से ही इस संसार का एहसास हो जाता है। यह एक भयावह, आतंकपूर्ण संसार है—एक यंत्रणा है जो लम्बा आकार लेकर ऊँट की मानिन्द उसके पास / लेट जाती है / आम आदमी उसका सम्बन्ध गल्ले की दुकान से जोड़ता है / पर वह बोरियत से—और धीरे धीरे यह संसार अपनी असलियत खोलता चलता है—बोरियत एक जोंक है—जोंक एक आकर्षण और सभी प्रकार के आकर्षण जयसी मकड़ियों के जाले और

उसने आकर्षणों से भाग कर एक
सुरंग मे अपना डेरा जमाया
दीमकों के एक झुंड ने उसे वहाँ पा लिया
और वह सुरंग छोड़ कर बाहर भागा

वह प्यारे और लुभावन मूल्यों के संसार से टूट कर भयाक्रान्त स्थितियों मे जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है

मैंने एक कबूतर पाला है जो हमेशा नाचता रहता है
एक काली बिल्ली को उसे सौंप कर
मैं भयभीत कातर आँखें देखना चाहता हूँ

उसे लगता है कि उसकी सभी अभिलाषा, सभी पहचान डूब गयी है और उसके जीवन का कोई अर्थ नहीं रहा। उसे लगता है कि वह बूढ़े सर्प-सा अपनी मृत्यु की बाट देख रहा है। 'वर्षों से एक भयावह अजदहा शाम होते ही काट देता है नींद की रवाब'। इस तरह भय, अकेलापन, व्यर्थ होते जाने की प्रक्रिया और मृत्यु का एहसास इन कविताओं का केन्द्रीय बोध है और इस बोध को कवि ने आत्मकथात्मक प्रसंगों से गहराया है—जिन्दगी के नितान्त निजी प्रसंगों को कविता में गूँथ कर। निजी प्रसंगों का कविता में सृजन भी हो सकता है और उनका निरा इस्तेमाल भी। काव्य-रचना का यह तरीका अगर निजी बाह्यात्मकता तक सीमित रहता है तो वह डायरी के पन्नों से अधिक या 'केस-हिस्ट्री' से बढ़ कर, कविता के पक्ष मे कोई अहमियत नहीं रख सकता। यह तरीका अगर भीतर घुमड़ते भय और आतंक का, विसंगति और विडम्बना का यानी संपूर्ण भीतरी अराजकता और जटिलता का एहसास करा पाता है तो यह कविता की सार्थकता के लिए काफी समझा जाना चाहिए। कवि ने इन प्रसंगों को

निजी बाह्यात्मकता को आन्तरिक अर्थ दिया है। वह उन स्थलों पर सफल है जहाँ वह उस यातना को उभार सका है जिसे भोगने के लिए वह अभिशप्त और अकेला है। पर, व्यंग्य और विडम्बना के माध्यमों के प्रति उदासीन रहने के कारण कवि व्यक्ति-मन की समस्त जटिलता और यातना के विविध रूपों को उजागर कर पाने में असमर्थ रहा है।

इतिहासहंता की कविताएँ एक आक्रामक चरमता को छूती हैं। यह आक्रामकता न तो किसी ठोस बाह्य व्यवस्था को सम्बोधित है न उसे निशाना बनाती है। यह न किसी राजनीतिक तन्त्र के प्रति आक्रोश उडेलने वाली आक्रामकता है और न निर्मम सामाजिक व्यवस्था को झटका देने वाली। कवि का दावा है कि उसने अतीत को काट दिया है। बेदर्दी के साथ और रातनी और हवा और इन्तजार इन सब बातों की निरर्थकता का उसे पता चल गया है। निष्ठा और धर्म के ढोंग में वह जिन्दा नहीं रहना चाहता और प्रेम जैसे अभिशप्त रोग को मुट्ठी में भरकर आग में झोंक देना चाहता है, वह विनाश चाहता है, क्योंकि कीड़ों से मानव पिंडों के लिए उसके मन में कोई दया नहीं। प्रेम करना उसके लिए एक मामूली चीज है चाहे वह देश से हो, या प्रेमिका से। राष्ट्रीय झंडों और भेड़ सी बढ़ती प्रेमिकाओं को किसी अंधेरे कुएँ में ढकेल कर वह लम्बी नींद निकालना चाहता है। यही नहीं, वह इतिहास का प्रत्येक चिह्न नकारना चाहता है और तमाम लोगों के सामूहिक निधन का इन्तजार कर रहा है। कवि के इन नकारात्मक और ध्वंसपरक वक्तव्यों के पीछे क्या सचमुच कोई दृष्टि है जो मनुष्य की मौजूदा हालत से जुड़ती हो? अतीत, परम्परा, धर्म, निष्ठा, प्रेम, देश का निषेध कविता की शक्ति बढ़ाए बिना क्या रचनात्मक जमीन पा सका है या एक भावमुद्रा के आस्फालन के रूप में व्यक्त हुआ है? ध्वंस और अस्वीकार या निषेध एक गैर रोमांटिक भाव है पर यहाँ यह भाव कविता में चरितार्थ नहीं हो पाया है और न किसी तिलमिला देने वाली स्थिति से अपना सरोकार जता सका है। ये कविताएँ समकालीन स्थितियों में साझेदारी का एहसास न दे कर, कुछ ऐसा आभास देती हैं कि कवि स्वयं को उन स्थितियों से ऊपर या बड़ा या असम्पृक्त जता रहा है

धर्म के नाम पर जीवित हैं चंद नुचे हुए स्तन
और उनकी सेवा में निमग्न है पूरी की पूरी शताब्दी
सारा देश
केवल मैं नहीं

वैयक्तिक अहंकार की यह मुद्रा स्थितियों को न सही सदर्भ और न दावल ही पाने देती है। और यहीं जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या आज की मानव-स्थिति या नियति से इनका कोई सम्बन्ध जुड़ता है? जड़ पड़े हुए देश और मनुष्य के लिए स्पन्दित हो सकने की क्या कोई गुंजाइश रह गयी है? कवि कहता है—मुझे प्रेम नहीं चाहिए, मुझे घर नहीं चाहिए, मुझे

यश नहीं चाहिए ? मुझे केवल एक अनिश्चित घड़ी में / अनायास पा गया एकांत चाहिए और उसके पास मँडराता / एक बूढ़ा सर्प / मैं उस सर्प की खोह में रहना चाहता हूँ / और बाबी के भुतहे एकांत से जहर बटोर कर / तमाम देश के निर्वीर्य प्रकंपन में हलचल चाहता हूँ। मैं मात्र एक, खण्डहर का भुतहा एकांत चाहता हूँ— मात्र एक वियाबान निस्संदेह, भ्रष्ट परिवेश के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव यहाँ व्यक्ति मन के गहरे स्तरों पर व्यक्त हुआ है। जगदीश की कविता में भ्रष्ट परिवेश की कोई ठोस उपस्थिति नहीं है बल्कि यह परिवेश और वैयक्तिक अर्थ में रूपान्तरित हो गया है जहाँ समाज, संस्कृति और इतिहास से कोई सरोकार नहीं रह जाता। इसी लिए जो क्रूर और आक्रामक रवैया अख्तियार किया गया है, क्या उसे उन और भय से निजात पाने का एक तरीका माना जा सकता है ?

सबसे बड़ी दिक्कत पैदा करता है कवि का काव्य-मुहावरा जो अनावश्यक रूप से मुखर है। कविता में तनाव या जटिलता का व्यंजन करने का यह रास्ता नहीं हो सकता कि भावों को अविश्वसनीय अतिशयोक्ति के रूप में व्यक्त किया जाए और शब्दों में हवा भर कर उन्हें गुब्बारे की तरह उड़ने की छूट दे दी जाए। भाव का यह स्फीतिकरण कविता के हित में नहीं होता और अगर इसके साथ कथनगत स्फीति भी आ जुड़े तो कविता, बावजूद सभी कलात्मक उपकरणों के, सफल नहीं हो सकती। जगदीश के काव्य-मुहावरे की यह स्फीति इस बात का प्रमाण है कि ये कविताएँ स्नायुविक उत्तेजना में लिखी गई हैं

हट जाओ मेरे सामने से जमा हुई भीड़
हट जाओ मेरे सामने से अय्याश औरतो

सम्बोधन की यह मुद्रा सारी स्थिति को एक सपाट धरातल पर ले आती है और एक तनावहीन शाब्दिक तनाव में बिखर जाती है। गौर करने की बात है कि इन कविताओं का यह मुहावरा अनिवार्य रूप से उपमान निर्भर, प्रतीकात्मक और बिम्बधर्मी है। वन्य-जगत् से प्राप्त उपमान, प्रतीक और बिम्बगत सामग्री भीतरी हलचल और घबराहट का बोध कराने के लिए लाई गई है। जगदीश चतुर्वेदी के काव्य की भाषिक संरचना में ये उपमान प्रतीक और बिम्ब कविता के आन्तरिक स्तरों से जुड़े हुए हैं। भाषा की तोड़न, मरोड़न या अस्त-व्यस्त करने की ऐसी प्रवृत्ति यहाँ नहीं है जिससे अर्थ के भीतरी स्तर उद्घाटित हों। यह भाषा प्रतीक और बिम्ब को काव्य-भाषा के एक अनिवार्य माध्यम के रूप में इस्तेमाल करती है और उसी हद तक अर्थ प्रसार करती है।

बहरहाल, जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ कवि की एक अलग और विशिष्ट पहचान देती हैं। यह पहचान कवि के नितान्त निजी और विशिष्ट मुहावरे से बनी है। इस मुहावरे से असहमत हुआ जा सकता है, रचना-स्तर पर उसके कारण जो दरारें पड़ी हैं, उनकी ओर इशारा किया जा सकता है, पर इस मुहावरे की विशिष्टता

से इकार नही किया जा सकता। यह मुहावरा घोर वैयक्तिक सदर्भों, प्रसगो और सनको को छूता हुआ जिस भीतरी ससार से साक्षात्कार कराता है, उसे सामने रखे बिना इस का लेखा-जोखा नही किया जा सकता।



समकालीन
रचना-संदर्भ

२
कहानी

स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी कहानी

किसी भी देश के लिए स्वतत्रता (प्राप्ति) महज एक घटना नही होती यह उस देश के लोगो की अदम्य मुक्ति-कामना, सघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है। स्वतत्रता के पीछे एक लबे सघर्ष का इतिहास रहता है और यह सघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आयाम देता है। स्वतत्रता वस्तुत, एक बुनियादी मूल्य है जिसके आधार पर समस्त नैतिक, सास्कृतिक और मानवतावादी मूल्यो की इमारत खडी है। भारतीय स्वतत्रता की लडाई स्वतत्रता को एक मूलभूत मानवीय मूल्य मान कर ही लडी गई थी और इसी कारण मानवतावादी मूल्यो से इसका विशेष सरोकार रहा था। इससे एक नई भारतीय मनोदृष्टि विकसित हुई थी जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य मे, कई रूपो और स्तरो पर हुई—कही मानवीय, सास्कृतिक मूल्यो के प्रति गहन निष्ठा की भावना के रूप मे, कही सामाजिक आर्थिक स्थितियो, समस्याओ के प्रति जागरूकता के रूप मे, कही वैयक्तिक-सामाजिक धरातलो पर यथार्थ और स्वप्न के सामजस्य के रूप मे और कही सबधो की सतह पर आदर्श और यथार्थ की द्वद्वपूर्ण स्थितियो की अभिव्यक्ति के रूप मे। स्वतत्रता-प्रेरित इस मनोदृष्टि ने साहित्यिक चितन और बोध को, निश्चय ही, बडे गहरे मे प्रभावित किया। इससे उस जमाने की एक नई साहित्यिक अभिरुचि निर्मित हुई जिसके आधार पर स्वातत्र्य-मूल्यो और सामाजिक प्रतिमानो को अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठा मिली।

स्वतत्रता प्राप्ति से इस अभिरुचि को पुनः एक नया सस्कार, सदर्भ और परिदृश्य मिला जिससे एक नई साहित्यिक चेतना का प्रारभ हुआ। स्वतत्रता के बाद

के चार-पाँच वर्षों मे इस चेतना का कोई स्पष्ट रंग रूप नही बन सका था, पर जैसे-जैसे स्वातंत्र्योत्तर स्थितियो का यथार्थ सामने आता गया वैसे-वैसे नई चेतना का स्वरूप भी प्रत्यक्ष और प्रखर होता गया। दरअसल, किसी बडी घटना का साहित्य पर सीधा और तात्कालिक प्रभाव नही पडता। यह प्रभाव साहित्य पर धीरे-धीरे पड़ता है और साहित्यिक दृष्टि का अग बनता है। ऐसा नही होता कि इधर घटना घटी और उधर परिवर्तन शुरू। होता यह है कि इस प्रकार की घटनाएं साहित्य को विचार, चिंतन और सवेदना का एक नया सदर्भ दे देती हैं। नई साहित्यिक चेतना के पीछे यह सदर्भ विशेष रूप से कार्य करता है। यह आकस्मिक नही है कि आजादी के बाद ही हिन्दी मे नवलेखन के रूप मे नया साहित्यिक उन्मेष आया। नई कविता और नई कहानी इसी साहित्यिक उन्मेष की सूचक हैं।

स्वतंत्रता के बाद कहानी को, सुविधा की दृष्टि से, दो खडो मे विभाजित किया जा सकता है—सन् १९४७-६० तक की कहानी और १९६०-७० तक की कहानी। सन् १९४७-५० के बीच लिखी हिंदी कहानी का कोई एक केंद्रीय बोध और चरित्र नही है। इसमे अजीब प्रकार के विरोधाभास हैं। लगता है आजादी के बाद के तीन-चार वर्षों मे कुछ भी विशिष्ट नही लिखा गया। ये कुछेक वर्ष बाद की कहानी के लिए खाद बनते गए। यो प्रगतिवादी किस्म की, मनोवैज्ञानिक ढग की, मध्यवर्ग के आदमी की चालू कहानियाँ इस बीच भी लिखी जाती रही। सन् ५२ ५३ की कहानियो मे ही, सर्वप्रथम, मानवीय दृष्टि का सस्पर्श दिखाई देता है। चीजो को देखने-पहचानने की यह दृष्टि नए सदर्भों की देन थी। यह दृष्टि मानवीय मूल्यो के पुनर्मूल्यांकन की थी जो बाद मे, यानी सन्'५६ मे नई कहानी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के साथ मनुष्य को उस के परिवेश मे अन्वेषित करने वाली दृष्टि बनी। इस दृष्टि ने जीवन-यथार्थ के बोध और अभिव्यक्ति की सपूर्ण प्रक्रिया को ही बदल डाला।

यह दृष्टि नई कहानी को पुरानी कहानी से अलगाती है। पुरानी कहानी मे जहाँ विचार या धारणा अथवा सिद्धात विशेष या सामाजिक न्याय की कोई अमूर्त-सी कल्पना रचना पर हावी होने लगती थी वहाँ नई कहानी ने विचार या धारणा या सिद्धात विशेष की अपेक्षा अनुभूत सत्य या भोगे हुए यथार्थ को कहानी मे ग्रहण किया और अनुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया। इस से नयी कहानी जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की कहानी कला से भिन्न हो गयी—और जीवनानुभवो की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। मनुष्य का अपने परिवेश से एक नया रिश्ता कायम हुआ और इस रिश्ते के भिन्न-भिन्न पहलुओ और रूपो को इस मे उजागर किया गया। पुरानी कहानी मे जहाँ बाकायदा एक 'प्लाट' और चरित्र चित्रण का प्रयास रहता था वहाँ नई कहानी मे 'प्लाट' और चरित्र की जकडबदी काफी हद तक कम हुई।

नई कहानी मे मूल्यगत विघटन या सक्रमण को पारिवारिक या मानवीय सबधो के स्तर पर व्यक्त किया गया है। सम्बन्धो का सरल, सपाट, प्रत्यक्ष रूप जीवन

की विसंगतियों के सामने बेमाने लगने लगा था। इसीलिए नए कहानीकार ने परम्परागत सम्बन्धो के आगे प्रश्न-चिह्न लगाए और उन्हे नए कोण से देखने-समझने और अभिव्यक्त करने की कोशिश की। चीफ की दावत (भीष्म साहनी), यही सच है (मन्नू भंडारी), भविष्य के पास मंडराता अतीत (राजेन्द्र यादव) और मलबे का मालिक (मोहन राकेश) आदि कहानियो मे बदले हुए सम्बन्धो के जटिल और सूक्ष्म रूपो का मार्मिक चित्रण हुआ है। चीफ की दावत मे माँ के प्रति पुत्र के सम्बन्ध और व्यवहार का जितना बेबाक चित्र खींचा गया है, वह इस से पूर्व की कहानी में मिलना दुर्लभ है। यही सच है कहानी भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के एक बिल्कुल भिन्न रूप को उजागर करती है। प्रेम कोई निरपक्ष सच्चाई नही है, सापेक्ष सच्चाई है। निशीथ के प्रति उसकी घृणा प्रेम मे बदलने लगती है और संजय के प्रति उसका प्रेम-भाव कृतज्ञता-भाव तक सीमित होने लगता है। उसके लिए निशीथ का स्पर्श भी सच है और संजय का भी। प्रेम-सम्बन्धों का यह चित्रण इस कहानी मे अत्यन्त सहज ढग से, संवेदनात्मक स्तरो पर हुआ है। भविष्य के पास मँडराता अतीत मे भी सम्बन्धों के टूटने की व्यथा अभिव्यक्त है। पति पत्नी के सम्बन्धो म तनाव आ जाने से विच्छेद जरूरी हो गया। विच्छेद के अनन्तर पति की दारुण मानसिक अवस्था का आकलन इस कहानी मे है। दाम्पत्य-प्रेम की अर्थहीनता तो उसने समझ ली, पर बच्ची के लिए अपार स्नेह से उद्वेलित अपने हृदय को कैसे समझाये? लेखक ने सम्बन्धो मे व्याप्त हो जाने वाली इस विकलता या पीड़ा की अभिव्यक्ति करुण-मानवीय संस्पर्शों द्वारा की है। मलबे का मालिक देश विभाजन के विषय पर लिखी हुई एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस मे मानवीय सम्बन्धो की पीड़ा, करुणा और क्रूरता एकबारगी साकार हो उठी है। इस कहानी मे, ठोस परिवेश के आधार पर, नयी-कहानी की मानवीय दृष्टि उजागर हो सकी है। खोई हुई दिशाएँ (कमलेश्वर) कहानी मे अजनबीपन और अकेलेपन को तोड़ने के लिए अतीत के प्रेम-सम्बन्धो को पड़ताला गया है। स्व की पहचान के लिए गहरी छटपटाहट इस कहानी मे अभिव्यक्त है और इसी से यह कहानी विशिष्ट बन गई है।

नयी-कहानी के अन्तर्गत संक्रान्त मन स्थितियो को विशेष रूप से उजागर किया गया है। जैसे कृष्ण बलदेव वैद की कहानी मेरा दुश्मन और मोहन राकेश की कहानी एक और जिन्दगी मे। मेरा दुश्मन कहानी जटिल और उलझी हुई मनःस्थिति को, सधे हाथो से, कलात्मक सूक्ष्मता से उभारती है। एक और जिन्दगी मे व्यक्ति की संक्रान्त मनःस्थिति का चित्रण है। उसे लगता है जैसे वह जी न रहा हो। क्या यही वह जिन्दगी थी जिसे पाने के लिए उस ने वर्षों तक अपने से संघर्ष किया था? यह चित्रण यहाँ, दाम्पत्य सम्बन्धो की जटिल स्थितियों के विवरणो के सहारे है। ये विवरण फालतू नही हैं, बल्कि मन स्थिति को गहराते हैं। कहानी मे प्रयुक्त संवेदनात्मक बिम्बो और विवरणो मे एक सहज संतुलन है।

नई कहानी आंदोलन के दौरान जहाँ शहरी जीवन के यथार्थ का चित्रण हुआ है। वहाँ ग्रामांचल के यथार्थ की भी बड़ी प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है। अनुभव की प्रामाणिकता को केवल शहरी संदर्भों तक सीमित रखने वाले नए कहानीकार के लिए ये कहानियाँ एक बहुत बड़ी चुनौती हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी मारे गए गुलफाम या तीसरी कसम में ग्राम-जीवन का बड़ा जीवंत और सजीव चित्रण है जो ग्राम-जीवन की करुणा को उभारता है। इसी प्रकार मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, शैलेश मटियानी की आंचलिक कहानियाँ अनुभव के एक अछूते संसार को उद्घाटित करती हैं।

नई कहानी आंदोलन के दौरान कुछेक कहानियाँ यों ही चर्चित कर दी गईं। इन कहानियों में नयापन या नई दृष्टि कुछ भी नहीं है। कमलेश्वर की राजा निरबंसिया और अमरकांत की डिप्टी कलक्टरी कहानियाँ, शैली चमत्कार के बावजूद, पुराने ढंग की अत्यंत साधारण कहानियाँ हैं जिन की संवेदना प्रेमचंदकालीन है।

सन्'६० तक आते आते नई कहानी रूढ़ साँचों में, बंधे बँधाए अनुभूति-पैटर्नों में ढलने लगी थी। जीवन यथार्थ का एक बिलकुल भिन्न रूप सामने था और नई जीवन स्थितियाँ लेखकों के लिए चुनौती बन गई थीं। इस चुनौती का सामना अकहानी और सचेतन कहानी ने अपने अपने ढंग से किया। अकहानी के व्याख्याताओं के अनुसार इस का सामना मूल्यों का नव-स्थापन करने से नहीं, मूल्यों की निर्मम मृत्यु के प्रति तटस्थता बरतने और यथार्थ के स्वीकृत आधारों का निषेध करने से हो सकता है। सचेतन कहानी के व्याख्याताओं ने इस नई चुनौती का सामना करने के लिए जीवन-मूल्यों को एक नया परिप्रेक्ष्य देने पर बल दिया। उनके अनुसार सचेतनता एक दृष्टि है जिस में जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। एक ही यथार्थ के प्रति ये परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ थीं। समकालीन कथा-रचनाओं पर इन दोनों दृष्टियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि समकालीन यथार्थ क्या है और इसकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है? समकालीन यथार्थ को प्रगतिवादियों के समान, समाजवादी ढर्रे पर, किसी सुनिश्चित अर्थ में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह यथार्थ अपनी प्रकृति में जटिल, गहन और बहुआयामी है। किसी एक विचारधारा पर निर्भर रह कर, इस यथार्थ को पकड़ा नहीं जा सकता। इस का अर्थ यह नहीं है कि समसामयिक यथार्थ और बोध के लिए इन की कोई प्रासंगिता नहीं है। प्रासंगिकता आज पहले से भी अधिक है पर, अब ये उस की मानसिकता और रचनाशीलता में इतना घुल मिल गई हैं कि उन की अलग अलग पहचान करना कठिन है।

समकालीन कहानीकारों ने भावात्मक संबंधों के टूटपूर्ण यथार्थ (नयी-कहानी में जिस का चित्रण हुआ है) की अपेक्षा महानगरीय संदर्भों में संबंधों की विसंगति,

विडम्बना, जटिलता, तनाव और त्रास को तरजीह दी है। समकालीन लेखकों की सबंधों की कहानियाँ मात्र सबंधों की कहानियाँ नहीं हैं, इन सबंधों में आधुनिक व्यक्ति झाँक रहा है। पिता (ज्ञानरंजन), सीधी रेखाओं का वृत्त (महीपसिंह), दरार (वेद राही), चेहरे (सिद्धेश), अपने दायरे (सान्त्वना निगम) ऐसी ही कहानियाँ हैं।

इधर कुछ ऐसी कहानियाँ भी प्रकाशित हुई हैं जिन में सूक्ष्म परतों में लिपटे हुए आदमी के उलझाव को मानसिक स्तर पर संक्रमित करने की कोशिश की गई है। ये कहानियाँ न उग्र है न सपाट। रोमानी-अरोमानी का भेद भी यहाँ आ कर खत्म हो जाता है। ये कहानियाँ सैद्धांतिक ऊहापोह से मुक्त, कलात्मक आग्रहों के साथ, कहानी की मौलिक पहचान कराने की कोशिश करती है। यह कोशिश कहाँ तक सफल है या असफल, इसे कुछ कहानियाँ ले कर देखा जा सकता है। काशीनाथसिंह की कहानी चोट में शहर के रेस्तराँ में बैरा का काम करने वाले सवा (ठाकुर) की मन स्थिति का चित्रण हुआ है। इस कहानी की सरंचना और उसके कलेवर के भीतर से ऊपरी अर्थ के समानान्तर चलने वाले एक भीतरी अर्थ को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। यह जरूर है कि कहानी में ऊपरी अर्थ का पलडा भारी पड़ता है और उस हद तक भीतरी बोध के सप्रेषण में बाधक बनता है। महीपसिंह की कहानी नींद कथा के कलेवर में से ही दुविधाग्रस्त मन स्थिति को सृजित करती चलती है। इसमें कोई एंठी कथात्मक मुद्रा नहीं है बल्कि कथा की भीतरी सरचना कहानी को मानसिक स्तर पर खोलती चलती है। इसमें न स्थिति का कथन है न चित्रण, केवल सवेदनात्मक सस्पर्श द्वारा पात्र की मानसिकता को उभार दिया गया है 'फिर रात में वह चौक कर जाग गया था। उसे लगा था उसका हाथ लम्बा होता जा रहा है और लम्बा होकर पास के बिस्तर तक पहुँच गया है।' विजय मोहन सिंह की कहानी क्षति गहरे मानसिक स्तरों पर चलती हुई कहानी है। कहानी की शुरू की पंक्तियाँ एक जटिल और अन्तर्विरोधपूर्ण मन. स्थिति को सामने रखती है—'मुझे साँस लेने में तकलीफ हो रही थी और मैं लगातार बुद्धिहीन होता जा रहा था। मैं वही हू—मैंने सोचा, लेकिन इस वक्त सिकुड़ कर केंचुआ हो गया हूँ। यह बरदाश्त के बाहर है। पर मैं हूँ, वही—साँस लने की तकलीफ और मूढ़ता में डूबा हुआ।' यह मन स्थिति पूरी कहानी में फैलती है और कहानी की मूल सवेदना को निर्मित करती चलती है। श्रवणकुमार की कहानी असमर्थ मानसिक असामर्थ्य के एक रूप को उभारने की कोशिश करती है। कहानी के 'मैं' में वतानो को पाने के लिए जबरदस्त ललक के बावजूद वह उसे पत्नी की अनुपस्थिति में भी छूने का साहस नहीं कर पाता। इसका कारण है उसका हारा हुआ भीतरी अहसास: 'दरअसल मेरे अन्दर एक ऐसा आदमी बैठा हुआ है जिसे मैं कभी यकीन नहीं दिला सकता कि वह हारा हुआ नहीं है। मैंने उससे काफी जिरह की है लेकिन उस हारे हुए आदमी को कभी आश्वस्त नहीं कर सका हूँ।' यह असमर्थता कहानी में मानसिक स्तरों पर खुलती चलती है।

महानगर में एक बड़े पैमाने पर हो रहे परिवर्तनों और यांत्रिकी और यन्त्र सभ्यता के दबावों को सातवें दशक के कहानीकार ने अनुभव किया है। उसके आत्म-जगत् पर इसकी गहरी छाप पड़ी है। उसने भयावह और आततायी बाहरी परिवेश को कहीं अपने भीतर रूपान्तरित होते हुए देखा है। उसकी भीतरी चेतना में मृत्यु भय गहराता चला गया है। इस संदर्भ में काशीनाथ सिंह की कहानी सुबह का डर देखी जा सकती है। सुबह का डर बाहरी मौत या मौत के भय की कहानी न होकर, मौत के सामने आदमी के आवरण के विघटन की कहानी है। तमाम औपचारिकताएँ निभाता हुआ आदमी कितना नंगा और कमीना है, यह इस कहानी में कथित नहीं, उसके रचाव का हिस्सा है। मौत सामने घटित हो रही है और सम्बन्धी और दोस्त सोचते हैं कि जल्दी से जल्दी मुसीबत टले। वे हमदर्दी दिखाते है और मौका पाकर वहाँ से खिसक जाते हैं। इस तरह यह कहानी मौत के बाहरी संदर्भ में आदमी के भीतरी विघटन को उजागर करती है। रवीन्द्र कालिया की कहानी मौत मृत्यु-भय की नहीं, मृत्यु के सामने घटित होने वाली आत्मविडम्बनात्मक स्थिति की कहानी है जिसे कहानी के अन्त का मैलोड्रामैटिक अंश काफी कमजोर बना देता है।

समकालीन हिन्दी कहानी आज के जटिल, गहन और बहुआयामी यथार्थ से जूझ रही है। उसकी प्रकृति में अन्तर-बाह्य अभिन्न हो चुके हैं। अनुभव और विचार की टकराहट से जो नयी कथा प्रवृत्ति विकसित हुई है, उससे आज के यथार्थ को पहचानने और उससे साक्षात्कार करने की एक नयी दृष्टि (और दिशा भी) मिल सकती है।

सातवें दशक की हिंदी कहानी

किसी भी साहित्यिक विधा के लिए एक दशक की अवधि महत्त्वपूर्ण हो भी सकती है और ऐसी भी जिसका नोटिस लेना जरूरी न हो। कोई दशक अगर रचनात्मक हलचलों से भरा हुआ हो और उसमें उच्चकोटि का कृतित्व रचा गया हो तो उस दशक के कृतित्व को एक अलग इकाई मानकर जाँचा-परखा जाना उचित ही है। पर, काल प्रवाह में हरेक दशक की एक अलग इकाई और वैशिष्ट्य बने ही, यह जरूरी नहीं। एक दशक में या १५-२० वर्षों की अवधि में लिखित साहित्य का स्तर ऐसा भी हो सकता है जिसमें पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों का मात्र पिष्टपेषण हो या जिसमें निहायत सामान्य और औसत स्थितियों का चित्रण हो। दरअसल 'दशक' को समीक्षा के आधार रूप में मानना न मानना एक सापेक्ष प्रश्न है, मात्र सुविधा का प्रश्न नहीं। 'दशक' को आधार मानकर किसी रचना-प्रवृत्ति के विश्लेषण में जुटने का कारण केवल सुविधापरकता नहीं है किसी दशक विशेष का विशिष्ट चरित्र (जो उसकी एक अलग इकाई और पहचान बनाता है) इस प्रकार के विश्लेषण-मूल्यांकन को स्वयं उकसाता है। सातवें दशक की कहानी को एक अलग इकाई और आधार के रूप में ग्रहण करने के पीछे हमारा यह विश्वास ही है कि इस दशक का एक विशिष्ट चरित्र है।

सातवें दशक की कहानी अपनी मूल प्रकृति में पूर्व दशक की कहानी से भिन्न है। यह भिन्नता कहानी के ऊपरी रंग रूप तक सीमित न होकर, कहानी के मौलिक स्तरों पर प्रतिफलित होने वाली तात्त्विक भिन्नता है।

यह परम्परागत कहानी से कहानी की मुक्ति है। इस कहानी ने कहानी की पुरानी धारणा को चुनौती दी है और नए अर्थ में उसकी परिकल्पना की है। यह कहानी परिवर्तित मानसिकता, दृष्टि और संवेदना की कहानी है। सातवें दशक की कथा-पीढ़ी ने उन तमाम मूल्यों को चुनौती दी जिन के प्रति पूर्व दशक की कथा-पीढ़ी ललक से भरी हुई थी और उस हद तक भावुक और रोमानी थी। नयी कहानी के जमाने में परिस्थितियाँ भी कुछ इस तरह की थी जो व्यक्ति को मूल्य स्तर पर एक दुविधा में डाले हुए थी। इससे सम्पूर्ण मोहभंग नहीं हो पा रहा था। नए कहानीकार स्थितियों के यथार्थ से तो परिचित थे और उसका उन्होंने चित्रण भी किया है, पर कहानियों के अन्त तक पहुँचते पहुँचते वे यथार्थ स्थितियों को सम्भाल नहीं पाते थे और अक्सर उन्हें अपनी मूल्याग्रही दृष्टि से मंडित कर देते थे। इससे यथार्थ प्रायः कल्पित प्रतीत होने लगता था अनुभूति की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ के दावों के बावजूद। पर, सातवें दशक के शुरू होने के साथ ही नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ उभर आईं जिनके कारण परम्परावादी मूल्य-ढाँचा चरमरा गया। इन कहानीकारों ने कहानी को छद्म मूल्यबोध से (जो अतीत का मूल्य मोह ही था) छुट्टी दिलाई यानी ऐसे अतीत मूल्य जिन्हें हम आदतन कन्धे पर लादे पूरा एक दशक भर ढोते रहे थे इस आशा से कि शायद वे हमारी जिंदगी में कहीं काम आ सकें, उनका हमारी जिंदगी से कोई नाता न रहा। इसके उलट हुआ यह कि स्थितियाँ बद से बदतर होती गई और इन मूल्यों की समसामयिक जीवन में संगति खत्म होती गई। वे अतीत की चीज बन गए। सातवें दशक के कथाकार ने इन अतीत मूल्यों को एकबारगी तिलांजलि दे दी। उनके लिए अपने समय की स्थितियों का तल्ख यथार्थ सबसे बड़ी सच्चाई बनी जिसका आमना-सामना करना उसके लिए जरूरी हो गया। इस तरह का सामना करने के रास्ते में जो भी मूल्य मुखौटे और कवच आड़े आ सकते थे, उसने उन्हें निर्मम होकर उतार फेंका। यह इन कहानीकारों की मूल्यों के प्रति विरक्ति या वितृष्णा या लापरवाही की मुद्रा थी, निश्चय ही यह अतीत से, अतीत मूल्यों से मुक्ति की शुरुआत थी। पर यह 'मूल्य' मात्र से या मूल्यवत्ता से से विच्छेद नहीं था। यह वर्तमान की घिनौनी, क्रूर और भयावह स्थितियों के प्रसंग में मूल्यों की नए सिरे से जाँच-पड़ताल और परीक्षण की दृष्टि थी। सबसे पहले कहानीकारों ने सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे परिवर्तनों को देखना-पहचानना शुरू किया था। इससे सम्बन्धों के नुस्खे चटकने लगे थे और इनके बँधे-बँधाए ढाँचा में दरारें पड़ गई थीं। इससे नयी मानसिकता निर्मित हुई थी जिसमें सम्बन्धों के स्थायित्व और शाश्वतता की 'मिथ' टूट गयी।

सातवें दशक की कथा-दृष्टि कोरमकोर यथार्थ पर टिकी है। इस यथार्थ का स्वरूप इतना सरल और प्रत्यक्ष नहीं है कि आसानी से कोई व्याख्या या परि-

भाषा दी जा सके। इसकी प्रकृति इतनी जटिल और उलझावपूर्ण है कि कोई वाद ग्रस्त विचार-ढाचा इसकी समझ और पहचान के लिए अपर्याप्त है।

सातवें दशक के कहानीकार ने मूल्यगत सकट और नए जीवन यथार्थ के परिप्रेक्ष्य म बदले हुए रूपो को देखा और पहचाना। इस तरह ये कहानियाँ सम्बन्धो मे व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता का सूक्ष्म और आतरिकस्तरो पर एहसास कराने वाली कहानियाँ बनी। इन कहानियो के विघटित और तनाव भरे सम्बन्धो का एक छोर आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना से जुड गया है। ज्ञानरजन की कहानी शेष होते हुए लें। इसमे सम्बन्धो के बदलाव और तनाव को, विघटित स्थितियो के सन्दर्भ मे इस ढग से व्यक्त किया गया है कि मनुष्य को वर्त्तमान स्थिति के प्रति भरपूर सकेत प्राप्त होने लगता है 'माँ गुमसुम रहती है और पिता चिडचिडे, पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्त्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं। ये बदली हुई स्थितियाँ हैं जहाँ परम्परागत सम्बन्धो का कोई अर्थ नही रह गया। यहाँ तक कि ये स्थितियाँ पारिवारिक सस्था को कायम रखने वाले जातीय अवशेषो को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। इस तरह इस कहानी की, सम्बन्धो की सतह पर बुनी हुई स्थितियाँ, गहरे अभिप्रायो से जुडती चलती हैं। सम्बन्धो म प्रतिफलित होने वाली यह दृष्टि महीपसिंह की कहानी कील मे भी है। इस म बदले हुए सम्बन्धो और उन सम्बन्धो म झाँक रहे आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार को देखा गया है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण है उसके डैडी जो उससे कहते रहते हैं कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढाते हैं कि वह किसी लडके को पसन्द करने की मन स्थिति मे आ ही न सके। उनके ऐसा चाहने के पीछे एक जटिल चरित्र है। लेकिन मोना इस ग्रथि से मुक्त होकर जीना चाहती है और इस की गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व मे कोई खास बात नही। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धो को देखने की यह एक सहज दृष्टि है जो इस कहानी की रचनाशीलता मे एक अन्तरग तत्व के रूप मे अवस्थित है। रामदरश मिश्र की कहानी निर्णयो के बीच एक निर्णय कथन-स्फीति के बावजूद बाह्य परिवेश से टकराती अन्त प्रकृति को बखूबी चित्रित कर सकी है। सभी तरह के घटिया लोगो द्वारा घिरा हुआ व्यक्ति अपने सतुलन को कैसे बनाए रखे—अपनी प्रकृति को खो दे या पागल हो जाए? आज के भ्रष्ट परिवेश मे क्या विकल्प बच रहा है? कहानी के अन्त मे कहानी का 'मैं' अपनी अन्त प्रकृति को झुठलाता हुआ सहाय से जोर-जोर से बात करने लग जाता है। इस कहानी मे केवल सम्बन्धो का नही, अन्त प्रकृति के विघटन का भी चित्रण किया गया है। गिरिराज किशोर की कहानी रिश्ता मानवीय रिश्ते के विघटन की कहानी है। मनकी और गिरधारी मे माँ-पुत्र का रिश्ता है भी और नही भी है। माँ और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहाँ गायब है। सम्बन्धो मे न कही कृत्रिमता है, न औपचारिकता।

इधर लिखी गई कुछेक कहानियाँ यौन-सम्बन्धों की जटिलता और उनके बदलाव को भी प्रत्यक्ष करती हैं। कृष्णबलदेव वैद ने अपनी कहानियों में महेन्द्र भल्ला के समान सेक्स एडवेंचर का कोई बचकाना और किशोरपरक लटका इस्तेमाल नहीं किया है। सेक्सगत स्थितियों के प्रति उनकी दृष्टि अरोमानी है। उनकी कहानियों में यौन-स्थितियों के जटिल-अन्तरंग रूप उभरे हैं। सब कुछ नहीं कहानी में एक ओर पति से अलग हुई औरत है तो दूसरी ओर पत्नी से अलग पड़ा हुआ पुरुष है। दोनों के बच्चे भी हैं। ये ऐसी स्थितियाँ हैं जो उनके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़तीं। वे जानते हैं कि दुबारा कुछ भी शुरू नहीं किया जा सकता। इस कहानी में, यौन-संबंधों का नहीं, *यौन-सम्बन्धों के दौरान पैदा हो जाने वाली मनोवृत्ति का महत्त्व है जो* आदमी को अकेला, आत्मपराया और पीड़ित बना जाती है। निरुपमा सेवती की कहानी टुकड़ा में भी सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे आज के आदमी को पकड़ने की कोशिश झलकती है। जीवनगत स्थितियाँ प्रेम-सम्बन्धों को एक सुविधा से अधिक अहमियत नहीं देतीं। पर, प्रेम-सम्बन्धों में व्याप्त यह सुविधापरकता इस कहानी में किसी गहरी या बुनियादी छटपटाहट द्वारा सन्दर्भित नहीं है।

इस दशक की कहानी बाहर से भीतर की ओर संचरण करती गई है। समकालीन लेखक यथार्थ के प्रति मात्र प्रतिक्रिया नहीं करता बल्कि यथार्थ उसके आभ्यन्तर में जिस रूप में रूपान्तरित होकर सृजित होता है, उसी का उसके लिए महत्त्व है। यथार्थ का यह आभ्यन्तरीकरण मानव स्थितियों से अनिवार्यतः जुड़ जाता है। काशीनाथ सिंह की कहानी अपने लोग इस दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। इस कहानी में मध्यवर्ग के बाबू की मन:स्थिति का बड़ी बेबाकी से चित्रण किया गया है। वह जानता है कि उसके भीतर की आवाज़ बिल्कुल मर चुकी है। वह अपनी अन्तरात्मा और स्वाभिमान को जगाना भी चाहता है :

> 'दामू, मेरे भीतर कोई चीज़ है जो मर गयी है'
> 'और तुम क्या चाहते हो'
> 'मैं चाहता हूँ कि वह जिन्दा हो'

पर, वह चीज़ जिन्दा नहीं हो पाती। वह भीतर से इतना पोला और पिलपिला, जड़ और स्पन्दनहीन हो चुका है कि न उसकी अन्तरात्मा जगती है और न स्वाभिमान। घिसटते हुए, घिघियाते हुए, अपमानित होते हुए, जिन्दगी बिताने की उसकी आदत उसकी स्थिति को निरीह और दयनीय बना देती है। दफ़्तरी बाबू की यह स्थिति एक आम स्थिति है लेकिन लेखक इसे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति के रूप में अभिव्यक्त करने में सफल रहा है। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी अपंग सत्ता एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने परिवेश की भ्रष्टता के विरुद्ध लड़ता हुआ पाता है कि वह अपनी मान्यताओं के विरुद्ध व्यवहार करने पर मजबूर है। उसे लगता है वह स्वेच्छा से कुछ भी करने में समर्थ नहीं और अपने ही बुने जाल में स्वयं उलझ कर रह गया है। वह

दूसरों को न्याय दिलाने की खातिर अपनी निजता या अस्मिता खो बैठता है। एक गहरे खाकी रंग से उसकी चेतना आक्रांत हो जाती है। उसकी यह स्थिति हर व्यक्ति की अपनी स्थिति का बोध कराने में समर्थ रही है। बदीउज्जमां की कहानी **चौथा ब्राह्मण** सर्वाविह मानवीय स्थिति को सहज ढंग से उभार सकी है 'मेरी ट्रेजेडी यह है है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूँ, लेकिन खुद को इस से मुक्त नहीं कर सकता। शायद यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है।··· मैं जानता हूँ, इस दौड़ का कोई अन्त नहीं है। लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा, चांदी और सोने की खानों को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और, हमारे सिरों पर एक-एक चर्खी घूम रही है।' दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती हुई चर्खी के साथ आज हम सब की सब से बड़ी वास्तविकता है। अपने स्वत्व की पहचान के लिए इस वास्तविकता की पहचान बहुत जरूरी है। इस स्वत्व को पहचानने की छटपटाहट प्रमोद सिनहा की कहानी **बैठा आदमी** में भी है। इस में अकेलेपन और निष्क्रियता की स्थितियों को अस्तित्व के एक बुनियादी प्रश्न के रूप में उठाया गया है। स्थितियाँ जैसी हैं, उन में आदमी नि:सहाय और निहत्था होता जाने पर मजबूर है। उसे लगता है अकेलापन उसे टुकड़ों में बाँट रहा है और हरेक टुकड़ा संपूर्ण आंगिक-संरचना का विरोधी हो उठा है और एक स्वतंत्र इकाई के रूप में पनप रहा है 'नारायण सोच रहा था कि अकेले रह कर उस ने अब तक लगातार आत्महत्या की है। ऐसी आत्महत्या जिस में मरने की योजना कई टुकड़ों में सम्बद्ध हो और हर बार कम से कम अपने ही किए पर सोचा जा सके।' एक चीख से घिरा हुआ वह छटपटाता है सक्रिय होने के लिए, कुछ करने के लिए पर उससे कुछ नहीं हो पाता निढाल होने के सिवा।

सातवें दशक में मानवीय अस्तित्व की यातना का एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ राजनीतिक है या अन्य कोई तंत्र या व्यवस्था। ऐसी कहानियों का स्वर व्यवस्था-विरोधी है। आक्रोश या विद्रोह ऐसी कहानियों में मुखर है। ये कहानियाँ, अधिकतर, तात्कालिक उत्तेजना में लिखी गई हैं। इनमें प्रजातंत्र या व्यवस्था के प्रति चालू किस्म का आक्रोश उड़ेलने का ढंग ज्यादातर, अपनाया गया है। कहीं-कहीं (दूधनाथ सिंह की कहानियों में) राजनीतिक बोध को इस कदर अमूर्त कर दिया गया है कि कुछ भी अटकल लगाने की सुविधा ली जा सकती है। इन कहानियों के सम्बन्ध में सब से बड़ा खतरा यह है कि ये कहानियाँ प्रतिक्रिया (प्रतिक्रियावादी नहीं) कहानियाँ या अखबार का इस्तेमाल करने वाली कहानियाँ बन कर न रह जाएँ जब कि जरूरी यह है कि ऐसी कहानियों में संवेदनात्मकता के साथ-साथ बेचैन कर देने वाला विचार तत्व हो। अशोक अग्रवाल की कहानी **प्रजातन्त्र** तात्कालिक उत्तेजना में रचित होने के कारण व्यवस्था या प्रजातंत्र के प्रति आक्रोश उड़ेलने वाली कहानी बन गयी है। आक्रोश का स्वर सतीश जमाली की कहानी **अर्थतंत्र** में भी है। कहानी का 'वह' देश

को कई बार गदा और सड़ा हुआ मुल्क कहता है। वह वर्षों से इस सारी व्यवस्था से घृणा करता आया है क्योंकि इस व्यवस्था के चलते 'एक-एक व्यक्ति की चमड़ी में कीड़े घुस गए हैं और वह अपाहिजों की तरह उनकी मार सहन करता हुआ दौड़ता जा रहा है।' कहानी की मुद्रा यथास्थिति को बदलने के तेवर में पूरे तन्त्र को चुनौती देने वाली है पर संवेदनात्मक स्तर पर यह कहानी व्यवस्था के सामने ढहते हुए आदमी की कथा है। यह आदमी इब्राहीम शरीफ की कहानी दिशाभ्रमित में भी है। इस कहानी में डरे हुए आदमी के अहसास को और विकल्पहीनता की उसकी स्थितियों को क्रूर राजनीतिक सन्दर्भ में उजागर किया है। राजनीति से सम्बद्ध लोग उसे चारों ओर घेरे हुए हैं और वह पाता है कि उसके लिए कोई रास्ता नहीं रह गया है। आम आदमी यह जानता है कि इनसे छुटकारा सभी मिल सकता है जब इन सभी की खाल उधेड़ी जाए पर सभी कहानी के 'वह' को एहसास होता है कि वह कहीं से इतना पोला हो गया है कि जलूस तो जलूस वह खुद को भी रगड़ने की हालत में नहीं है। इसी तरह रमेश उपाध्याय की कहानी मदद भ्रष्ट व्यवस्था में आदमी की निरीह स्थिति को व्यंजित करती है। स्वेच्छा से कुछ भी करना उसके वश में नहीं। सभी कुछ जान लेने के बाद, अन्याय और अत्याचार के कारणों का पता चल जाने पर भी आदमी क्या कर सकता है? 'मैं खून देखता हूँ और न मुझ में इन्सानियत भड़कती है, न मर्दानगी। मुझे सिर्फ सिगरेट की तलब लगती है। और मैं पाता हूँ कि मेरी माचिस अभी तक गीली है।' बेवजह मरते हुए आम आदमी के लिए सार्थक हो पाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं दिखती। विभुकुमार की कहानी सही आदमी की तलाश भी गलत व्यवस्था में पिस रहे आम आदमी की यातना को उभारती है। 'एक आदमी गलत व्यवस्था के, गलत लोगों के लात घूसा से पीटा जा रहा है और भीड़ देख रही है।' सही आदमी जेल में सड़ता है या पिटता है। उसके लिए कोई विकल्प नहीं। राजनीतिक चक्र उसे भीतर तक काटता चला जाता है। सुशील शुक्ल की कहानी कगार इन कहानियों से इस स्तर पर अलग और विशिष्ट है कि इस में व्यवस्था में पड़े हुए आदमी की जटिल स्थिति का बोध कराया गया है। यह कहानी व्यवस्था के संदर्भ में आक्रोश की नहीं, विडम्बना की कहानी है। कहानी के शुरू में लड़का किसी कगार या कट कर गिरना देखना चाहता है और लड़की को इस से डर लगता है। पर, कहानी के अन्त में लड़की भी किसी कगार का कट कर गिरना देखना चाहता है। उसे लगता है कि व्यवस्था से विरोध करने की बात तो दूर, हम कुछ भी नहीं कर सकते। 'लड़का जानता है कि व्यवस्था नशीली-नींद सो रही है। उसे जगाने के लिए एक विस्फोट की आवश्यकता है।' पर, व्यवस्था के सामने वह स्वयं को निरीह और लाचार पाता है। इन कहानियों में निरीहता और लाचारी का एक तीखा संवेदनात्मक बोध है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। पर, इस बोध के पीछे तिलमिला देने वाले विचार या विचार की पैनी-धार का अभाव है।

सातवें दशक के बीतते न बीतते एक नयी कथा-पीढ़ी तेज़ी से उभर आई है। इस कथा-पीढ़ी के पास नयी जीवन-स्थितियों से उत्पन्न ताज़ी और तीव्र संवेदनाएँ हैं और तेज़-तर्रार, चीज़ों को काटती चलने वाली अभिव्यक्ति-शैली है। फिलहाल, इस पीढ़ी के पास न कोई नारा है, न किसी आन्दोलन का बल, न कोई मुखौटा। यह पीढ़ी सिद्धांतों और धारणाओं के मुलम्मे को चीर कर, रचना की मौलिक पहचान करने की कोशिश कर रही है।

●

समकालीन कहानी : यथार्थ और अस्तित्व-बोध

हिन्दी-कहानी पिछले आठ-दस वर्षों में, समय की निर्मम सच्चाइयों और चुनौतियों के आमने सामने हुई है और क्रूर और नंगे यथार्थ से जुड़ कर अस्तित्व-बोध की स्थितियों और बुनियादी प्रश्नों को उठा रही है। समकालीन कथा-बोध की यही धुरी है जिसके गिर्द मानवीय स्थितियों के विभिन्न मूड्स लगातार धारण करते रहते हैं। महत्त्वपूर्ण है मानवीय-स्थितियों के यथार्थ का साक्षात्कार। स्थितियों या संबंधों के मात्र चित्रण से न तो कहानी आधुनिक बनती है और न ही समकालीन। इसके लिए ज़रूरी है कि चित्रण से आगे बढ़ कर यथार्थ के गहरे और जटिल स्तरों में पैठा जाय और रूढ़ यथार्थवादी ढंग से परे हट कर या किसी आग्रह से मुक्त होकर, आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व-चेतना से सम्बद्ध स्थितियों का बोध कराया जाय। समकालीन कहानी में जो भयावह यथार्थ व्यक्त है, वह अधिकतर अस्तित्व-संकट की पहचान कराने वाला और उसकी छानबीन करने वाला है। जटिल प्रकृति वाले इस यथार्थ से सीधे टकराये बिना आज की कहानी नहीं बन सकती।

सवाल हो सकता है कि समकालीन कहानी के यथार्थ से सीधे टकराने और रू-ब-रू होने की प्रक्रिया क्या है? और यह प्रक्रिया रचनात्मक रूप में किन स्तरों पर उद्-घाटित हुई है? इस संबंध में पहली बात तो यह है कि समकालीन कहानी में यथार्थ को आकलित और चित्रित

करने वाली दृष्टि सीधी और सरल न होकर जटिल और बहुआयामी है। इसमें यथार्थ को ग्रहण करने या उसके प्रति प्रतिक्रिया करने वाली किसी व्यवस्थित दृष्टि का अभाव है। दरअसल, हिन्दी कहानी यथार्थ को व्यवस्थित दृष्टि से पकड़ने के परिणामों को भुगत चुकी है। इसीलिए समकालीन कहानी में ऐसी दृष्टि का प्रायः, निषेध है जो किसी परम्परागत मूल्य-परिपाटी का अंग हो। समकालीन कहानी केवल रचनाशीलता के स्तर पर यथार्थ से जुड़ती हुई अस्तित्व-संवेदना को गहराती है। *मार्क्सीय, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और मूल्यपरक दृष्टियाँ अब आरोपित न* रह कर उसकी मानसिकता का अंग बन चुकी हैं।

समकालीन कहानी में यथार्थ के उस पक्ष को उभारा गया है जो मानवीय नियति के भयावह सन्दर्भों में अस्तित्व की बुनियादी समस्याओं से जुड़ा हुआ है। मुक्तिबोध की कहानियाँ, पहली बार, यथार्थ के इस पक्ष से सीधे टकराती है। प्रगतिशील और मनोवैज्ञानिक मताग्रहों में रूढ़िग्रस्त और ओछी हुई मानसिकता का शिकार हुई हिन्दी कहानी को जिन्दगी की वास्तविकताओं के करीब ला कर मुक्तिबोध ने कहानी को अनुभूति का नया आयाम और नया कथा-मुहावरा दिया। कहानी-संरचना की कई खामियों और तटस्थ दृष्टि के अभाव के बावजूद, मुक्तिबोध की कहानियाँ सुनिश्चित और बंधे-बंधाए फ्रेमों को तोड़ती हैं और एक आन्तरिक बातचीत के आधार पर अस्तित्व की तीखी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। उनकी कहानियाँ आधुनिक सभ्यता और आधुनिक व्यक्ति की बहुत गहरे में 'स्क्रीनिंग' करने वाली कहानियाँ हैं। **क्लॉड इथरली** एक ऐसी ही कहानी है। **क्लॉड इथरली** अन्तरात्मा की बेचैनी और यातना का प्रतीक या अणु युद्ध का विरोध करने वाली आत्मा की आवाज़ का दूसरा नाम है। "**क्लॉड इथरली** हमारे यहाँ भले ही देह रूप में न रहे लेकिन आत्मा की जैसी बेचैनी रखने वाले लोग तो यहाँ रह ही सकते हैं।" यह कहानी एक साथ कई स्तरों पर अन्तरात्मा और अस्तित्व के संकट को उजागर करती है। मन मस्तिष्क में एक भीतरी पागलखाना है जहाँ उच्च, पवित्र और विद्रोही विचार और भाव पड़े रहते हैं या समझौतावादी पोशाक पहनकर सभ्य और भद्र बन जाते हैं। अन्तरात्मा का पक्ष लेने वाले आधुनिक व्यक्ति के सामने कोई रास्ता नहीं है या हर रास्ता पागलखाने की ओर जाता है। आधुनिक सभ्यता के इस संकट ने आदमी को एक नये संकट के सामने ला खड़ा किया है और वह है आचरण का संकट। इस संकट की अनेक विरोधाभासपूर्ण भयावह परतों को मुक्तिबोध ने अपनी कहानी विपात्र में उघाड़ा है। मुक्तिबोध की अन्य कहानियों में भी अस्तित्व के ऐसे ही तीखे और ज्वलंत प्रश्न हैं। उनकी कहानियों में घटनाओं और प्रसंगों के लिए गुंजायश नहीं है। वे स्थितियों को संवेदना की तेज धार से काटते हुए आज के आदमी की भीतरी पीड़ा और मूलभूत आन्तरिक संकट तक पहुँच जाते हैं।

जीवन के क्रूर यथार्थ के भीतर से उभरी हुई, अस्तित्व सकट के जबरदस्त आघात देने वाली ऐसी कहानियां हिन्दी मे बहुत कम लिखी गयी है। समकालीन कहानीकारो का एक दल सबधो के जालो को बुनता और तानता रहा है और इसी मे अपना महत्त्व मानता रहा है। इन लेखको की सबधो की कहानियां, प्राय, यथार्थ की ऊपरी सतह से जुडी होने के कारण यथार्थ की भयावहता का कोई गहरा अहसास नही करा पातीं। ऐसी कहानियो म सबधो और स्थितियो के विवेचन और ब्योरे तो है पर सबधो और स्थितियो म निहित अस्तित्व की चुनौतियां, प्राय, अनुपस्थित हैं। रोमाटिक किस्म की सबधो की प्रतिक्रिया कहानियां लिखने वाले ज्ञानरजन और दूधनाथसिंह इसी लिए जल्दी चुक गए और अपनी ही रचना-रूढियो के शिकजे म ग्रस्त होकर 'कन्डीशन्ड' हो गए।

इस से यह आशय नही कि सबधो की कहानियां अच्छी या विशिष्ट नही बन सकती। आखिर सबधो के धरातल पर ही समय की सच्चाइयां रूप ग्रहण करती हैं। यह सही है कि समकालीन कहानी मे उनझे हुए पेचीदा सबध सूत्रो के लिए कोई जगह नही है, तो भी कहानी के रचना-तत्र मे सबधो की सन्दर्भ-भूमिका रहनी ही है। निरर्थकता, सत्रास, अजनबीपन और अकेलेपन की बडी-बडी बातें की जा सकती हैं, लेकिन ये बातें रचनात्मक स्तर पर कितनी प्रामाणिक और प्रासगिक है, इसे सम्बधो के सूक्ष्म और आन्तरिक धरातल पर आंका जा सकता है। सबधो म व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता का चित्रण महत्त्वपूर्ण हो सकता है पर इस चित्रण से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है यह बोध कराना कि तनाव, विघटन या जटिलता की सवेदना आज के आदमी की अस्तित्व स्थिति से कहाँ तक जुडी हुई हैं और उसका सर्जनात्मक रूप क्या है? देखना यह है कि यथार्थ के सलीब पर टंगी सवेदना अन्तरात्मा या अस्तित्व के सकट को कितनी गहरा रही है और उजागर कर रही है।

इधर कुछ ऐसी कहानियां लिखी गयी है जिनमे तनावपूर्ण सबधो का बोध कराया गया है। ये कहानियां कोरी सबधों की कहानियां न होकर, सबधो मे भोग रहे आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार की कहानियां है। रमेश बक्षी की कहानी पिता दर पिता, बावजूद रोमांटिक कथा-सस्कारो के, पीढ़ियो के बीच के फासले और सघर्ष को उभारती है। इस कहानी मे पिता-पुत्र के सम्बन्धो, सबधो नही, असबधो और पीढी दर पीढी रूपान्तरित होते चेहरो और 'आर्च टाइपो' का रचनात्मक स्तर पर बोध कराया गया है। इस कहानी मे सबधो की अभिव्यक्ति बौद्धिक या एकेडेमिक स्तर पर न हो कर, सवेदनात्मक स्तर पर है और इसमे युवा पीढ़ी की अराजक स्थिति का (जो उत्तरोत्तर एक जीवन-पद्धति म तबदील हो रही है) का बोध कराया गया है। रामदरश मिश्र की कहानियो मे यद्यपि विघटित सबधो का भावात्मक ढग के जरिये बोध कराया गया है, तो भी कुछेक कहानियो मे गाव

और शहर की अशान्त चेतना का यथार्थ भी उभरा है जो अस्तित्व-पीड़ा को गहराता है। चिड़ियों के बीच कहानी में निजी और गाँव की परेशानियों के बीच फंसे एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण है जो 'घर से, गाँव से जुड़ा हुआ है, समझ से नहीं, एक आन्तरिक राग लय से।' शहर में रहते हुए उस पर परिवार की जरूरतों के, गाँव में रह रहे अपने आत्मीय जनों के और परिस्थितियों के दबाव हैं। ये दबाव भावात्मक संबंधों को तनावपूर्ण बना जाते हैं। इस कहानी में संबंधों का तनाव और द्वंद्व संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त है। यह लेखक की रागात्मक रचना-दृष्टि को सूचित करता है। इस दृष्टि को लेखक के आत्मीय अनुभव निर्धारित करते हैं जिनके मूल प्राथमिक बोध से लेखक स्वयं को काट नहीं पाता और उस हद तक तटस्थ नहीं हो पाता। उनकी कहानियों में इसीलिए यथार्थ का रागात्मक पुनःसृजन और एक गहरी सम्पृक्ति का भाव है। इस अर्थ में उन की कहानियों का मूल स्वर समकालीन कथा-बोध से थोड़ा भिन्न भी है और जितना भिन्न है उतना विशिष्ट भी।

यौन-संबंधों की जटिलता और उनके बदलाव की स्थितियाँ भी कुछ कहानियों में व्यक्त हुई हैं। इन कहानियों में यौन जीवन की विस्फोटक स्थितियों का दबाव बड़ा साफ है। कृष्णबलदेव वैद की कहानी त्रिकोण, महीपसिंह की कहानी गंध और सान्त्वना निगम की कहानी बीतते हुए इस कथन को पुष्ट करती है। त्रिकोण कहानी में पति, पत्नी और प्रेमी का बिलकुल नया त्रिकोण है, क्योंकि प्रत्येक की मनःस्थिति बदली हुई है। संबंधों का यह बदला हुआ रुख, यह की खोल को बनाए रखने और उसी में सिमट जाने का है। इस कहानी में संबंधों के बदलाव की लेखकीय दृष्टि स्थितियों के यथावत् स्वीकार की है जो चित्रण से आगे नहीं बढ़ पाती। महीपसिंह की कहानी गंध कोरे चित्रण से आगे बढ़ती है। इस में यौनानुभवों का रचनात्मक और संश्लिष्ट रूप मिलता है। यौनपरक विस्फोटक स्थितियाँ संबंधों में जो तनाव और हताशा भर देती हैं, उसका बोध यह कहानी कराती है। तनाव और हताशा बद्धमूल सुरक्षा-भाव से टकराते और जूझते हैं और यातना को तीव्र कर जाते हैं। सान्त्वना निगम की कहानी बीतते हुए में संबंधों की पीड़ा का रोमानी हैंग ओवर नहीं है। इस कहानी में लगावहीन संबंध या लवलैस सैक्स अथवा भावुकताविहीन होने जाने की प्रक्रिया मौजूद है।

समसामयिक यथार्थ केवल वैयक्तिक या केवल सामाजिक नहीं। इसे भीतरी या बाहरी खानों में नहीं बाँटा जा सकता। व्यक्ति और समाज यहाँ परस्पर गुथे हुए हैं और मानवीय अस्मिता और अस्तित्व को गहराते हैं। यह यथार्थ महानगर की संकटपूर्ण स्थितियों से बना है। समकालीन कहानीकार ने इस यथार्थ को अस्तित्व-संकट की मानवीय स्थितियों से जोड़ने की कोशिश की है। इन कहानियों के संबंध में पहली बात तो यह कि महानगर के जिन सन्दर्भों को लेकर कहानी की नींव रखी गयी है, वे वास्तविक भी हैं या नहीं। अक्सर होता यह है कि लेखक महानगर का

एक 'फेक' या कल्पित ससार रच लेते हैं जिनका महानगर के वास्तविक सन्दर्भों से कोई वास्ता नही होता। ऐसी कहानियो मे लेखक का कस्बाई-बोध और ग्राम्य-सस्कार हावी रहता है। शहरी यथार्थ का एहसास कराने के लिए तटस्थ और निर्मम दृष्टि जरूरी है जो नगर-जीवन और नगर-सस्कृति की विविध प्रक्रियाओ की गहरी समझ और बोध पर आधृत हो। शहर मे रह रहे व्यक्ति की चेतना पर दोहरे-तिहरे दबाव हैं। समकालीन कहानीकार ने इन दबावो और इन से पैदा हुई विसगतियो-विडम्बनाओ का बोध अपनी कहानियो के माध्यम से कराया है।

यात्रिकी के भयावह सदर्भों मे आदमी अस्तित्व-सकट की लडाई म निहत्था ही जूझ रहा है। यह जूझना कही भी आरोपित मूल्यो से जुडा हुआ नही है, तो भी मानवीय अर्थ मे जुडने की सापेक्षता में यह मूल्यवत्ता का ही एक स्तर प्रतीत होता है। योगेश गुप्त की एक कहानी है एक्सपोजर लें। इस कहानी मे यत्र-दैत्य के पजे मे पडे आदमी की निरीहता, भय और घुटन का निर्मम चित्रण किया गया है। कारखाने मे काम करने वाले मशीनमैन घनश्याम की चेतना पर एक गहरा दबाव है। ऊँचे ऊँचे मकानो से घिरी एक अन्धी गली है जिस मे वह रहता है। बाहर निकलने का कोई रास्ता नही। 'उसका दम घुटने लगा।' सामने आसमान को छूती इमारतो की एक कतार। पीछे आसमान को छूती हुई इमारतो की कतार।

तो क्या वह कैद है ?
बाहर नही जा सकता ?
पर साढे छः बजे हैं और कारखाने तो उसे जाना ही है।'

इस कहानी म लखक ने आज के आदमी की बेबसी, लाचारी, यातना और अनिश्चय का बोध प्रतीको और बिम्बो के सर्जनात्मक इस्तेमाल द्वारा किया है। 'एक कीकर का पेड है। ऊँचा घना। उसके नीचे एक खाट पर तीन जने बैठे हैं। एक दूसरे की तरफ मुँह किये, एक दूसरे को ताकते हुए। तीनो के हाथो में खरबूजों के टुकडे हैं। वे चाकू से काटे नही गए है। हाथ से तोडे गए है। खाट के नीचे बहुत सारे बीज और छिलके पडे हैं।' घनश्याम को लगता है कि ये लोग डाकू हैं। यह बिम्ब सारी कहानी मे हॉट करता रहता है।

महानगर म रहने वाले व्यक्ति के लिए मृत्यु या मृत्यु भय एक सामान्य अनुभव है। रोज एक्सीडेंट होते हैं और लोग मरते हैं। इन दुर्घटनाओ के प्रति शहर का व्यक्ति ऊपर से उदासीन या असम्पृक्त प्रतीत होता है। पर उसकी भीतरी चेतना मे मृत्यु-भय गहराता रहता है। महीपसिंह की कहानी पारदर्शक म जीवन की भयाक्रान्त स्थितियो का बोध कराने का प्रयास किया गया है कहानी के 'वह' और उसकी पत्नी भाभी के माध्यम से। कहानी का 'वह' तनाव को बाहरी और भीतरी दोनो स्तरो पर सहता है, पर उसकी तनावपूर्ण मन स्थिति सबधो की जटिलता का एहसास नही कराती। यह अहसास भाभी कराती है। भाभी तनाव मे जीती है और तनाव मे

सहज हो पाने की संवेदनात्मक प्रक्रिया से गुजरती है। दुर्घटना मे किसी की मौत की खबर सुनकर भायी अत्यन्त भयभीत हो जाती है। भयाक्रांत मन स्थिति मे वह अपने पति का उसके होठो के सान्निध्य से पी जाना चाहती है। यहाँ उसके मानसिक तनाव का बिम्ब उभरता है। तृप्ता के पति तनेजा साहब की एक्सीडेंट मे मौत की खबर पाकर तो वह घबड़ा जाती है। तनाव की तीव्रतम स्थिति म वह बेतहाशा अपने होठो को उसके होठो से रगडती है—"अपने दोनो हाथो से उसने उसका चेहरा जैसे जकड लिया था जैसे वह उसका पति नही, एक मामूली सा जीव था, जो किसी प्रेत के हाथो दबोच लिया गया था।' जाहिर है मृत्यु-भय का यह कोरा चित्रण न होकर, भयाक्रांत मन-स्थिति म सहज हो पाने की वांछा लिए है। तनाव मे सहज हो पाने की दृष्टि यहाँ रचना के भीतर से उभरी है और अस्तित्व की सही पहचान कराती है। गंगाप्रसाद विमल की कहानी विध्वस बाहर से भीतर की ओर छलांग लगाती है। इस कहानी मे मृत्यु-भय को संवेदना की अन्तरिकता के स्तर पर अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है। यह स्वय म एक सर्जनात्मक तरीका हो सकता है बशर्ते संवेदना खरी और सच्ची हो और रचना विधान म अमूर्त किस्म की चुस्त फिकरेबाजी न हो। इस कहानी के शुरू मे, अन्त मे और बीच म, जिस भयानक चिट्ठी का उल्लेख है, वह एक अमूल रहस्य ही बनी रहती है। केवल इतना पता चलता है कि युद्ध के दौरान जो भीषण विनाश हुआ उससे कहानी के 'मैं' की संवेदन-क्षमता खत्म हो गई। अब उसे आसक्ति और मोह मूर्खता लगती है और राजनीति मनोरंजन से अधिक कुछ नही। यह कहानी बाहरी विघटन के समानान्तर भीतरी विघटन का दस्तावेज हो सकती थी यदि मन स्थितियों को सन्दर्भहीन रखकर या धुंधले सन्दर्भ देकर सिनिसिज्म की हद तक न ले जाया गया होता। विजयमोहन सिंह अपनी कहानी भीड के बाद मे अस्तित्व-संकट को पहचानने म अधिक सफल रहे हैं। भीतरी विघटन के बावजूद अपने स्वत्व को पहचानने का एक प्रबल संकेत इस कहानी मे है तरह-तरह के मुलम्मो को चढाता हुआ व्यक्ति पाता है कि वह कहीं नहीं है। 'लोग लगातार चलते जा रहे हैं उसकी पहुँच के बाहर और उसके प्यार से विरक्त।' सामूहिक हित के तथाकथित मूल्य आदमी के भीतर पाखड को जन्म देते हैं और वह भीतर से टूट जाता है, अपनी इकाई भी गँवा बैठता है और फिर इकाई की पहचान के लिए जूझता है। यह कहानी निर्वासन या अजनबीपन के चालू मुहावरो का अतिक्रमण करती हुई मानवीय नियति के ठीक आमने-सामने है।

वेद राही की एक कहानी है हररोज। बम्बई जैसे महानगर मे जीवन ढोने जैसी चेतना-शून्य स्थितियो को यह कहानी उजागर करती है। साठे रोज सुबह साढे आठ बजे बोरावली से ट्रेन म बैठता है, चर्च गेट पर उतरता है, शाम को चर्च गेट से बोरावली की ट्रेन पकडता है और घर पहुँचता है। हर रोज का यह यान्त्रिक क्रम उसे भीतर से सोख रहा है। मानवीय करुणा और सहानुभूति उसके लिए निरर्थक हो गए

है। निरर्थक हो जाने का यह बोध मानवीय नियति का भयावह साक्षात्कार कराता है। साठे देखता है—ट्रेन के दरवाजे पर खड़े, आँखें बन्द किए एक व्यक्ति को जो गाड़ी की तेज गति के साथ झूल रहा है। साठे सोचता है इस तरह से झूलता हुआ वह आदमी किसी समय भी बाहर गिर सकता है। क्यों न बाँह पकड़ कर वह उसे सीट पर बैठा दे। साठे ने आगे बढ़ना चाहा, पर रुक गया, ख्याल आया यह तो आम बात है उसकी सोच का रुख ही बदल गया। और वह आदमी चलती ट्रेन के दरवाजे के पास झूलता हुआ गिर गया और मर गया। महानगर में सहानुभूतिशून्य होते जान का यह रोज का क्रम है। कुछेक अन्य कहानियाँ भी हैं जो मृत्यु-भय का अन्यानेक स्तरों पर उद्घाटन करती हैं जैसे रामकुमार 'भ्रमर' की कोशिश के उस पार और कुलदीप बग्गा की कोमा। पहली कहानी में महानगरीय समाज को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। नगर में रोज एक्सीडेंट होते हैं और आदमी का मरना मामूली बात है। इस कहानी में मृत्यु-भय को इस संदर्भ में उभारा गया है। जसवंत में मानसिक तनाव की स्थिति शुरू से आखिर तक है। 'कितनी अजीब बात है' जसवंत ने सोचा, 'इस शहर में हर चीज रास्ता माँग रही है। इसी तरह, चीख-चीख कर और कोई किसी को रास्ता नहीं देता। इस कहानी में जड़ता की हद तक पहुँची हुई निरपेक्ष मन:स्थिति का चित्रण किया गया है, पर आत्मीय सम्बन्धों के प्रति भावात्मक रुख की गुंजाइश इसमें बनी रही है। कोमा कहानी में सामान्य स्थितियाँ हैं, पर संवेदना का स्वरूप बदला हुआ है। एक ओर हरी के पिता की मौत का प्रसंग है। हरी और सुनीता सोचते हैं कि उन्हें सेवा का मौका नहीं मिला। दूसरी ओर सुनीता का बेटा बीमार है—कुछ दिनों से 'कोमा' में है। सुनीता सोचती है 'जो होना है वो टूट हो जाए'। और कहानी के 'मैं' को लगता है, 'वह मौत इस बीमारी से कम भयानक थी'। इस कथन से मानवीय स्थिति से जुड़ी यथार्थ की कटुता पूरी तरह से उभरती है।

आस-पास के परिवेशगत यथार्थ को भी समकालीन कहानियों में मूर्तांकित किया गया है। दफ्तर, बाबू, अफसर और नव धनाढ्य वर्ग से यह परिवेश बना है। इस परिवेश से पाठक का अति-परिचय है। ऐसी कहानियों के सम्बन्ध में यह डर रहता है कि लेखकीय संवेदना सरलीकृत न हो जाए या आत्मकथा अथवा 'केस हिस्ट्री' न बन जाए। श्रवणकुमार ने इस जोखिम को उठाया है और बावजूद इसके कि कई कहानियाँ सामान्य प्रसंगों और स्थितियों का लेखा जोखा बनकर रह गयी हैं, उनकी ज्यादातर कहानियों में चिर-परिचित परिवेश सर्जनात्मक मुहावरा पा सका है जैसे विरोध, गिद्ध, बवण्डर चमड़ी पर जमता मोम आदि कहानियों में। इन कहानियों में आस-पास के परिवेश के यथार्थ की तल्खी पूरी तरह से उभरी है। ये यथार्थ के प्रति गम्भीर प्रतिक्रिया की कहानियाँ हैं। ऐसी ही प्रतिक्रिया धर्मेन्द्र गुप्त की तथागत कहानी में भी है। अर्थ-तन्त्र के दबाव तले पीस के रहे साधारण आदमी की परेशानी और द्वन्द्व का चित्रण इस कहानी में है। पर छोड़ कर रमल का चले जाना आखिर किस ओर

संकेत करता है ? अपनी तरह से जीने की छूट और अपनी तरह से जीने की पद्धति का चुनाव क्या एक साधारण व्यक्ति के हाथ में है ? वह तो रोजमर्रा की जरूरतों को जुटाता हुआ ही मर-खप जाता है। इन कहानियों में यथार्थ को पूरी गम्भीरता से ग्रहण किया गया है जब कि रवीन्द्र कालिया की कहानियों में यथार्थ को मजाकिया कोण से देखने की प्रवृत्ति है जिससे उनकी अधिकतर कहानियाँ सामान्य स्थितियों का सरलीकरण कर उनका मखौल उड़ाती हैं और यथार्थ को केवल ऊपरी परतों को टोहती हैं।

इधर कुछ ऐसी कथा-प्रवृत्तियाँ भी नजर आ रही हैं जो युग-जीवन के यथार्थ से आक्रान्त (आब्सेस्ड) प्रतीत होती हैं। ऐसी कहानियों में यथार्थ का नहीं, यथार्थ की मुद्राओं और विकृतियों का कथन है। सिद्धेश की मन मत्स्यगन्ध, फोड़ा, लाश, और अहसास आदि कहानियों में अर्थहीनता का कोरा चित्रण है और यह चित्रण मानसिक निरीहता की हद तक पहुँचा हुआ है। इनमें अर्थहीनता का संवेदनात्मक धरातल कहीं नहीं है। सच तो यह है कि सिद्धेश के पास शहरी जीवन के तनावों और दबावों को अभिव्यक्त करने वाली भाषा नहीं है। भाषागत असमर्थता की वजह से उनकी कोई भी कहानी स्थितियों और सम्बन्धों की वास्तविक अर्थहीनता और तज्जनित बहुरूपियेपन, ढोंग, सहानुभूति-शून्यता का कोई गहरा बोध नहीं जगा पाती है। ये कहानियाँ सम्बन्धों के या मानवीय स्थिति के यथार्थ की कहानियाँ न होकर यथार्थ के 'भ्रमों' की कहानियाँ बन गयी हैं। अशोक अग्रवाल ने अवश्य ही व्यर्थता-बोधक स्थितियों का डिस्टॉर्शन की टेक्नीक में अहसास कराने की कोशिश की है। उनकी कहानी **टुकड़े-टुकड़े** में निहायत मामूली जीवन-स्थितियों और प्रसंगों को अलग-अलग टुकड़ों में रखकर एब्सर्डिटी का बोध कराया गया है।

राजनीतिक सन्दर्भ समसामयिक यथार्थ का एक अपरिहार्य अंग है। यह मानवीय नियति को गहराने वाला एक क्रूर सन्दर्भ है। राजनीतिक सन्दर्भ की भयावहता का बोध बहुत कम कहानियों में हुआ है। दूधनाथ सिंह ने अपनी कहानियों में इस सन्दर्भ को लिया तो है पर अमूर्त प्रकार के सरलीकरणों का शिकार हो जाने से इस सन्दर्भ का कोई यथार्थ बिम्ब वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। देशव्यापी 'कैआस' का यथार्थ बिम्ब हिमांशु जोशी की कहानी **जो घटित हुआ है** में उभरता है, फैन्टेसी के शिल्प और भाषा की जबरदस्त अमूर्तता द्वारा। गिरिराज किशोर की कहानियों में राजनीतिक बोध मानवीय स्थितियों के साक्षात्कार के अंग रूप में अभिव्यक्त हुआ है। **पेपरवेट** एक ऐसी ही कहानी है जिसमें राजनीतिक दुष्चक्र में अन्तरात्मा के घुटने और टूटने की अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति है। **अलग अलग कद के दो आदमी** कहानी में व्यवस्था और राजनीति के संदर्भों में व्यक्ति की विघटित और विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण है। गिरिराज किशोर की भाषा का मुहावरा अमूर्त या काव्यात्मक या तनावपूर्ण न होकर ठेठ, सीधा और सर्जनात्मक है।

समकालीन कहानी सम्बन्धों और मानवीय स्थितियों के यथार्थ को किसी पूर्व-निर्धारित या सुनिश्चित अर्थ में ग्रहण नहीं करती। इसके लिए यथार्थ न कोई पैटर्न है न फ्रेम और न फार्मूला। समसामयिक यथार्थ एक जटिल, संक्रमित और संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका कोई एक या अन्तिम रूप नहीं है। यह यथार्थ न यथार्थवादी किस्म का है और न मनोवैज्ञानिक ढंग का। यह अपने मूल अर्थ में अस्तित्व संकट से जूझने वाला यथार्थ है। समकालीन कहानी दृष्टियों के मोहजाल से उबर कर, कवचहीन हो कर, यथार्थ के सलीब पर टंगे अस्तित्व-बोध को विविध स्तरों पर अनेक कोणों से पकड़ने और अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है।

●

मानव-स्थितियाँ और समकालीन कथा-बोध

समकालीन कहानी मे मानव स्थितियो का चित्रण करने की ओर लेखकों की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढती गई है। आकस्मिक कह कर इसके महत्त्व को नकारा नही जा सकता। साहित्यिक क्षेत्र मे किसी बड रद्दोबदल या नए प्रवर्तन के पीछे ऐतिहासिक दबाव रहते ही है। एक काल खड म व्याप्त ऐतिहासिक चेतना रचना म सीधे प्रतिफलित नही होती, धीरे-धीरे वहां सिमट आती है और अपना पाँव जमा लेती है। हर नयी साहित्यिक प्रवृत्ति ऐतिहासिक अर्थ मे अपनी सगति और प्रासंगिकता लिए रहती है या उसकी तलाश करती है। इधर, समकालीन कहानी मे मानव स्थितियो के उद्‌घाटन की ओर जो अभिरुचि बढी है, उसका यहाँ की ऐतिहासिक सच्चाइयो से सीधा सरोकार है। इसे सार्त्र या कामू का जादू कह कर झुठलाया या टाला नही जा सकता।

इससे इकार नही कि स्थितियाँ पहले भी थी, पर स्थितियो को मनुष्य की सही हालत के सदर्भ मे न रख कर उन पर 'रहस्य' का खोल उढा दिया जाता था या कल्पना-लोक मे उडान भरने की सुविधा ले ली जाती थी या स्थितियो को आदर्शात्मक परिणतियो की ओर या स्थूल सामाजिक समस्याओ के घेरे मे धकेल दिया जाता था। छायावादी कविता हो या तत्कालीन कथा-साहित्य, इनमे मूल समस्याओ से सीधे-सीधे टकराहट से बचने या कतराने की प्रवृत्ति थी। प्रेमचन्द की कफन और पूस की रात कहानियाँ अवश्य अपवाद कही जा सकती हैं जिन म स्थितियो का सामान्य चित्रण या आदर्शीकरण न हो करके, स्थितियो के यथार्थ का घिनौना रूप उभरा है। स्थितियो को

यहाँ न तो समस्याओं को रूप में उठाया गया है और न ही उन्हें किन्हीं निष्कर्षों से जोड़ा गया है। प्रेमचन्द के बाद के कथा साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता का नारा चाहे कितना बुलन्द हुआ हो पर सामाजिक यथार्थ को तिलमिला देने वाली मानव स्थितियों का इस में अभाव ही है। तथाकथित प्रगतिवादी कहानियों का अर्थ और आशय रूढ़ और सुनिश्चित होने के कारण, ये कहानियाँ मानव-स्थितियों को उभार पाने में अक्षम रहीं। इस बीच अज्ञेय (हर रोज़), मुक्तिबोध (क्लॉड ईथरली) और रांगेय राघव (गूंगे) की कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य आईं जो नए परिवेश में मनुष्य की बदलती हुई स्थिति को संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त करती थीं। इसके अनन्तर 'नयी कहानी' में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'भोगे हुए यथार्थ' की बात जिस रूप में उठाई गई, उसमें स्थितियों की बौद्धिक समझ और पकड़ ढीली पड़ गई और कहानियों में औसत स्थितियों की भरमार हो गई।

वास्तव में, हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के उदय के साथ ही मानव स्थितियों को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इस में सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया की गति बहुत धीमी रही। इसका कारण था हमारी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ जो बार-बार भुलावे में डालती रहीं और हम मोह भंग की स्थिति से एक इंच नीचे खड़े एक झटके का इंतजार करते रहे। सातवें दशक के शुरू होते ही हमें भरपूर झटका मिला और हम ने पाया कि हम परिवर्तित युग-चेतना की गिरफ्त में हैं। यही संपूर्ण मोहभंग से हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ और समय की निर्मम सच्चाइयों के संदर्भ में मानव नियति की क्रूरता और भयावहता हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगी।

इस साक्षात्कार के सम्मुख पहले तो हम भौंचक्के और स्तब्ध रह गए। फिर, परकटे पक्षी की तरह निःसहाय से भीतर ही भीतर फड़फड़ाते रहे और अब उसी पक्षी को हम अपनी चेतना में लहूलुहान महसूस कर रहे हैं। मानव-स्थितियों का यह तल्ख अहसास सातवें दशक की कहानियों का केन्द्रीय बोध है।

सवाल यह है कि समकालीन कहानी में यह बोध किस रूप में अभिव्यक्त है? स्थितियों की गहरी और तीव्र संवेदना होना एक बात है, पर उन्हें रचना के विविध स्तरों पर, कथा-संरचना के संश्लिष्ट अंग के रूप में सृजित करना सर्वथा दूसरी। यह बात अब तक स्पष्ट हो चुकी है कि समकालीन कहानी में स्थितियों के यथार्थ को पकड़ने की कोई तयशुदा दृष्टि नहीं है। व्यवस्थित दृष्टि को अपनाने से जो भयंकर परिणाम निकल सकते हैं उन्हें हिन्दी कहानी (और कविता भी) प्रगतिवादी आन्दोलन के दौरान भुगत चुकी है। इसीलिए समकालीन कहानी-लेखक रूढ़ यथार्थवादी ढर्रे से अलग हट कर, मानव स्थितियों के यथार्थ से जुड़ना है जहाँ वादग्रस्त दृष्टियों के कवच गल कर उतर जाते हैं और वह सीधे मानव-

स्थितियों से कृति की बुनाई में जुटता है और अपनी रचनाधर्मिता को पहचान करता है। ये मानव-स्थितियाँ कहीं सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के ठोस सदर्भों से जुड़ी हैं तो कहीं वैयक्तिक यथार्थ के गहरे आन्तरिक स्तरों से। फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'रेखाएँ वृत्तचक्र' इस सम्बन्ध में देखी जा सकती है। इसमें यथार्थ को, उसकी पूरी जटिलता और उलझनों के साथ पकड़ने और बाह्य परिवेश से उस की टकराहट व्यंजित करने की अपूर्व क्षमता है। महत्त्व की बात यह है कि वे इस व्यंजना को कहानी की संरचना में ही गूँथते हैं और चेतना प्रवाह शैली और स्वप्न-शिल्प द्वारा अन्तर-बाह्य यथार्थ का रेशा-रेशा उधेड़ते चलते हैं। इस कहानी में अहं के विसर्जन का नहीं, अहं की सूक्ष्मतम परतों को उघाड़ कर, बाहरी दुनिया से उसका रिश्ता कायम किया गया है। आपरेशन के बाद के १० घंटों में अवचेतन मन के व्यापार कितने नंगे होकर सामने आते हैं, इसे लेखक ने चेतना प्रवाह और स्वप्न-पद्धति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है और बाहरी वास्तविकता की वीभत्सता की ओर संकेत किया है। यह संकेत कहीं-कहीं बड़ा उग्र और आक्रोश-पूर्ण है 'नहीं नहीं, मैं कोई कसूर कबूल नहीं कर रहा। मेरा मतलब है, मैंने कोई कसूर किया ही नहीं। इस दुनिया, अर्थात इस विशाल वेश्यालय में मैं ही सबसे बड़ा पुण्यात्मा हूँ, क्योंकि मैं ही इसे समाप्त करना चाहता हूँ—ध्वंस'। यह कहानी ऊपरी तौर पर देखने में 'आटो-राइटिंग' लगती है पर यह 'आटोराइटिंग' नहीं है क्योंकि इसमें आत्म-लोप की नहीं आत्म विडम्बना की बात परत-दर-परत खुलती चलती है और फिर बाहरी दुनिया के साथ इसका रिश्ता जुड़ता चलता है।

कमलेश्वर मानव नियति के प्रश्न को ठोस सामाजिक, राजनीतिक सदर्भ में उठाते हैं। उनकी कहानी 'लाश' राजनीतिक स्थिति के ठहराव का व्यंग्य और विडम्बना के सहजे में कौशलपूर्ण ढंग से चित्रण करती हुई मौजूदा मानव-विरोधी राजनीतिक यथास्थिति की ओर इशारा करती है। राजनीतिक स्तर पर आयोजित मोर्चे, विरोध और आक्रोश के नारे, आम आदमी के सदर्भ में बेहूदे प्रमाणित होते हैं—"सारा शहर सन्न रह गया। गनीमत थी कि इतने बड़े हादसे में सिर्फ एक लाश गिरी थी। वह लाश भी बिल्कुल सालिम थी। उसके न गोली लगी थी, न वह कहीं से घायल थी।" पुलिस के अनुसार यह विरोधी नेता कांतिलाल की लाश है और कांतिलाल का कहना है कि यह मुख्यमंत्री की लाश है और मुख्यमंत्री का कहना है 'यह मेरी नहीं है।' दरअसल, क्रूर राजनीतिक परिवेश से जुड़े हुए वह आम आदमी की लाश है। निःसन्देह, यह एक स्थिति का कलात्मक बयान है। पर, क्या इतना काफी है? कहानी की संरचना के सर्जनधर्मी होने के बावजूद इसमें सम-सामयिक आदमी के निजत्व की तलाश की ओर संकेत क्यों नहीं है? राजनीतिक रंगत की कहानियों के सदर्भ में यह और भी जरूरी है कि उनमें लेखक राजनीतिक सदर्भ की गहरी समझ और पहचान का सबूत दें और तल्ख राजनीतिक-बोध को

तिलमिला देने वाल विचार-तत्र से संयुक्त कर मानव-नियति के पक्ष को उजागर करें। पर, अवसर ऐसा हो नही पाता और तात्कालिक दृष्टि चीजो को उनकी सही शक्ल और संदर्भ नही पाने देती। कुछेक लेखक जैसे भीष्म साहनी और गिरिराज किशोर तात्कालिक उत्तेजना से मुक्त होकर, राजनीति स सम्बद्ध मानवीय पक्ष को उभार सके है। भीष्म साहनी की कहानी मौकापरस्त मे राजनीतिक नेताओ के पाखण्ड और धूर्तता को बडी बेबाकी और क्रूरता स उजागर किया गया है। मौत का भी अपने हक म इस्तेमाल करने के कौशल म निपुण वे उन लडको से भी ज्यादा मौकापरस्त, चालाक और धूर्त हैं जो बूचडखाने म ले जाई जाती हुई निरीह बकरियों का दूध दुहते हैं। शुरू और अन्त म बूचडखाने के प्रसग की व्यजना कहानी की सवेदना के अनेक अर्थ-स्तरो पर खोलती चलती है। इसी तरह रवीन्द्र कालिया की कहानी काला रजिस्टर एक निर्मम व्यवस्था के सदर्भ मे मानवीय स्थिति का दस्तावेज है। यह दफ्तरी बाबुओ के आपसी सम्बन्धो का ही रेखाकन नही है। इसम दम घोटू व्यवस्था म व्यक्तियो के निरीह और लाचार होते जान की सवदनात्मक प्रक्रिया वृहत्तर संदर्भों की अनुगूंजो सहित, उपस्थित है।

राजनीति और व्यवस्था क अलावा युद्ध के ज्वलत सदर्भ भी आधुनिक आदमी की जटिल मन स्थिति और यातना से जुडे हुए है। मदीपसिंह की कहानी युद्धमन युद्धग्रस्त मन स्थिति को उजागर करने वाली कहानी है। युद्ध का आतक यहा मानसिक स्तरो पर सक्रमित होता है। युद्ध को यहा एक समस्या क रूप मे नही एक स्थिति के रूप म प्रस्तुत किया गया है। यह स्थिति कोहली साहब द्वारा स्वत वरण की गई है जो इसे मानव स्थिति के दर्जे तक पहुँचाती है। सवेदना प्रकट करता एक-एक चेहरा उसे बडा घृणित-सा लगता है। इसीलिए व उस आगत मे जो सिर्फ उनका है एकमात्र उनका, उसमे वे किसी की हिस्सेदारी नही चाहत यदि मेरे किसी बच्चे या सम्बन्धी की शहीदी मिली तो उसका सुख या दुःख सिर्फ मेरा होगा। उसे मैं अकेला भोगूगा, किसी के साथ मिल कर नही।' इस कहानी म युद्ध के आतक से पैदा हुई मन स्थिति का, बिना भावुक हुए, बोध कराया गया है।

मानव स्थितियों को उजागर करने वाला बोध अपने मूल रूप म महानगरीय है। महानगर के जीवन के उलझे हुए परिवेश म मनुष्य की यत्रणा, भय, अकेलापन और व्यथता का अहसास जितना तीव्र और सघन है उतना गाँव के परिवेश मे नही, हालांकि गाव और शहर की मक्रान्त चेतना का गहरा सवेदनात्मक बोध इधर की कई कहानियो म हुआ है। महानगरीय तनाव और यातना का, अकेलेपन और व्यर्थता का एहसास एकायामी न होकर, बहुविध और जटिल होता है।

महानगर के जीवन में दुर्घटना का होना एक सामान्य स्थिति है। इस का इधर की कहानियों में औसत चित्रण भी हुआ है और जटिल अनुभव के रूप में भी इस का बोध कराया गया है। सुदर्शन चोपड़ा की कहानी सडक-दुर्घटना की संरचना जटिल है। बाह्य दुर्घटनाओं की भयानकता के साथ-साथ यहाँ भीतरी दुर्घटना भी पूरी क्रूरता से उभरती है: 'मुझे ठीक याद है कि उसे प्वाइंटिड बूट से ठोकरें मारते समय मैं बराबर यही समझे जा रहा था कि अपने ही अपमानित आपे को पीट रहा हूँ।·· मैं ··· आखिर क्योंकर मान लूँ कि मैं अपने ही बेटे को जान से मारना चाहता था? आखिर मैं उस का बाप हूँ। उस का मेरा खून का रिश्ता ठहरा। नाखूनों से भला मांस जुदा हो सकता है। इस कहानी में मनुष्य की यातना के एक गहरे मानसिक स्तर को उभारा गया है। जितेन्द्र भाटिया की कहानी एक आदमी का शहर में शहरी जीवन के अकेलेपन की संवेदना व्यक्त है। लेखक ने इस संवेदना को शहर की अनेक स्थितियों और प्रसंगों में रख कर अभिव्यक्त किया है। शकर कहानी की मूल संवेदना को व्यक्त करता हुआ कहता है 'यही कि हर इंसान अन्ततः अकेला है — कि आखिरकार हर चीज का संदर्भ अपने-आप पर समाप्त होता है।' ये स्थितियाँ कोई अजूबा नहीं हैं, ये हमारे समसामयिक संसार की, रोजमर्रा की स्थितियाँ हैं जिन्हें इस कहानी में अभिव्यक्त किया गया है। जगदीश चतुर्वेदी की कहानी काल भयाक्रान्त मानवीय स्थिति को, नितान्त वैयक्तिक संदर्भ में उभारती है। कहानी का 'वह' ऑपरेशन के लिए अस्पताल में दाखिल है। कल उसका ऑपरेशन होने वाला है और आज की रात उसने एक कशमकश में गुजारनी है। उसे नींद नहीं आ रही। पिता और नर्स के प्रसंग में वह हल्की फुलकी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। तभी उसे लगता है खिड़की पर झुकी पीपल की टहनी पर एक नर कंकाल लटक रहा है। रात में वह देखता है कि चार आदमी कई जगह से चिथड़े हुए मांस के एक लोथड़े को बिस्तर पर लिटा रहे हैं — और आसन्न मृत्यु की दहशत में उसे नींद आने लगती है। यह वैयक्तिक यथार्थ के धरातल पर, भीतर घुमड़ते भय का बोध कराने वाली कहानी है।

मानव-स्थितियों को सीधे मूल्य धरातल पर अभिव्यक्त करने की भी कोशिश की गई है। आज के मनुष्य की मूल्यरहितता का आभास देने वाली मन स्थिति—उसे एक अमानवीय शिकंजे में कसती जाती है। अन्ततः मूल्यशून्यता जीवन के नकार की स्थिति है जो मनुष्य के दिशाबोध के लिए घातक है। अशोक अग्रवाल की कहानी 'उस का खेल' एक फैंटेसी है पर कहानी के अंत की पंक्तियाँ मानव स्थितियों की मौजूदा हालत को मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उठाती हैं—'और मैंने जाना कि मेरा वह दिशाबोध उसका खेल था। शून्यों की लड़ियाँ पिरोते हुए मैं अब शून्य हो रह जाने के लिए अभिशप्त था।'

समकालीन कहानी म मानव-स्थितियो का जिस रूप मे चित्रण हुग्रा है, क्या उसे प्रतिनिधित्वपूर्ण या प्रामाणिक कह सकते हैं ? ऐसा दावा शायद नही किया जा सकता। कहानी हो या कविता या साहित्य की ग्रन्य कोई विधा, समसामयिक स्थितियो का उसका लेखा-जोखा, ग्रपने माध्यमो की विशिष्टता के कारण, गहरा ग्रौर जटिल होता है, सपूर्णत प्रतिनिधित्वपूर्ण ग्रौर ग्रतिम नही। रचनाकार के लिए स्थितियो का महत्त्व ग्राकडो से बढ कर एक माहौल के रूप मे है जिसे वह एक सदर्भ (सभव हो तो शक्ल भी) देता है। समकालीन कहानीकार इस से ग्रधिक का दावा नही कर सकता।

विसंगति और विडम्बना : एक अराजक होता हुआ कथा-संसार

व्यक्ति जब 'अपने सामने नग्नप्राय' खड़ा हो तो वह अपनी स्थिति के लिए अपने से इतर किसी अन्य को जिम्मेदार नही ठहराता, उसकी कांपती हुई क्रुद्ध उँगली उठते-उठते रुक जाती है, क्योंकि वह अपने सामने आइनों की एक दीवार खड़ी पाता है जिसमे उसके अपने ही विसंगतियो-भरे, विरोधाभासपूर्ण, बेढंगे और विकलांग अक्स उभरते हैं। उस के लिए अपने अंदर के भयावह यथार्थ से बड़ा और कोई यथार्थ नही होता। वह सत्ता या व्यवस्था के प्रति न घृणा उंडेलता है, न परिवेश की विसंगतियो की शिकायत करता है। उसके लिए प्रामाणिक है परिवेशगत बोध जिसकी पहचान वह गहरे आत्मिक धरातल पर करता है और जो उसे सताता है, तिलमिला देता है और अन्तर्जगत मे उथल-पुथल मचा देता है।

कृष्णबलदेव वैद की कहानियो मे (कहानी संग्रह : दूसरे किनारे से, राधाकृष्ण प्रकाशन) इस व्यक्ति को उसकी संपूर्ण जटिलता मे पकड़ने-समझने और उसके बोध को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। ये बाहरी सन्दर्भ की अपेक्षा भीतरी सन्दर्भ मे चरितार्थ होने वाली कहानियाँ है। यह 'भीतर' 'बाहर' का प्रतिफल नही, न ही उसकी प्रतिक्रिया। यहाँ समूचा बाहर भीतर स्थानांतरित हो गया है जिससे उसकी एक अलग अंतर्सत्ता बनी है और एक आन्तरिक तर्क संगति भी। इसमे परिवेश को नकारने या चुनौती देने का अंदाज न हो करके, परिवेश को एक संवेदनात्मक शक्ति देने और उसे आन्तरिक स्तरो पर सृजित करने की कोशिश झलकती है। यह कोशिश रचनात्मक अपेक्षाओ की दृष्टि से कितनी सफल है या असफल,

कलात्मक है या अकलात्मक, इसे कुछेक कहानियों के आधार पर परखा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर उनकी एक कहानी 'रात' लें। सभी कुछ विसंगति और विडम्बना की स्थिति में है। अपने निजत्व की पहचान गवा चुके और उसके लिए छटपटाने वाले आदमी की स्थिति यह है 'मेरे पैर मुझ से दूर होते जा रहे है। मेरा मुंह चिढ़ाते हैं और फिर उसी तरफ (चौराहे की ओर) फुदकते हुए बढ़ जाते हैं।' इस कहानी मे लेखक ने मानव-प्रकृति की विवशता का एहसास कराने वाली विसंगतिपूर्ण स्थितियो का डिस्टार्शन की टेकनीक मे बोध कराया है। तमाम मौजूदा स्थितियाँ गडडमड्ड है—कमरा प्लेटफार्म मे बदल जाता है और 'वीराना प्लेटफार्म' की जगह ले लेता है। 'कहा जा रहे हो ?' की अनुगूंज कहानी को मूलतया छटपटाहट से जोड़ देती है 'शायद सब मर चुके हैं। बस मैं ही बचा रह गया हूँ। मैं और यह मरा हुआ जानवर जिसकी लाश मे न जाने कहाँ-कहाँ ढोता फिरूँगा। अब भी वक्त है। नही, वक्त भी मर चुका है। मैं मुस्कराता हूँ', चिल्लाता हूँ। यह वैयक्तिक धरातल पर मानव-नियति की तेज और तीखी अभिव्यक्ति है। क्या *यहाँ नियति का कोई ठोस बाह्य सदर्भ है ? यहाँ तो अधेरे मे, अयथार्थ मे लिपटा हुआ* एक मकान है जिसमे कुछ छायाएँ इधर से उधर, उधर से इधर मँडरा रही हैं। *कहानी का 'मैं' इन छायाओ को भस्म कर देना चाहता है।* पहले वह उन के प्रति आक्रामक हो उठता है, फिर उनसे बच निकलना चाहता है और अंत मे उसे महसूस होता है कि चीजों और व्यक्तियो के प्रति *आक्रामक रवैया व्यर्थ ही नहीं, मारमयली* भी है। इन छायाओ की कोई ठोस उपस्थिति कहानी मे नही है। इन कहानियों मे भीतर अराजक होते हुए भी ससार की अमूर्त उत्कट अभिव्यक्ति है।

इस संग्रह की अधिकतर कहानियाँ ऐसी हैं—जो यौन-सम्बन्धो के आधार पर जटिल अनुभवो को सप्रेषित करती है। ऐसी कहानियाँ हैं—**त्रिकोण, सब कुछ नहीं और नीला अंधेरा**। इनमे सैक्सगत स्थितियो को एक सर्वथा भिन्न कोण से देखा गया है और नई आधुनिक दृष्टि के अतर्गत उनका बोध कराया गया है। सैक्स यहाँ बदली हुई मानसिकता के प्रतीक रूप म आया है। त्रिकोण कहानी लें। इसमे पति-पत्नी और प्रेमिका का बिलकुल नया त्रिकोण है। प्रत्येक की मन स्थिति बदली हुई है। यौन-सम्बन्धो का यह बदला हुआ रूप अह की खोल को बनाए रखने और उसमे सिमट जाने का है। लेखक ने यौन-सम्बन्धो की मौजूदा स्थितियो को मानसिक द्वंद्वों के स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है। यौन-स्थितियाँ जटिल अन्तरग रूपो और यातनाओ से जुड जाती है उनकी कहानी **सब कुछ नहीं** मे। एक ओर पति से अलग हुई औरत है तो दूसरी ओर पत्नी से अलग पडा हुआ पुरुष है। दोनों के बच्चे भी हैं। वे उन स्थितियों को बखूबी जानते हैं जो उन्हे कोई विकल्प या रास्ता नही देती। *औरत कहती है 'मैं लौटना नहीं चाहती, पर फिर भी लौटूँगी, क्योंकि और कोई चारा* नहीं।' इस मजबूरी को दोनों जानते हैं कि दोबारा कुछ भी शुरू नहीं किया जा सकता। *वे जान चुके हैं कि सभी सम्बन्धो की सभावनाएँ एक सी होती हैं। यहाँ यौन-*

सम्बन्धों का नहीं, यौन-सम्बन्धों के दौरान पैदा हो जाने वाली उस मनोवृत्ति का महत्व है जो आदमी को अकेला, आत्मपराया और पीडित बना जाती है। कहानी के परम्परागत चौखटे को, शैली शिल्प के स्तर पर तोड कर लेखक ने इस अनुभव को अभिव्यक्त किया है। नीला अंधेरा का काव्य भी औरत-मर्द के रिश्तो में व्याप्त हो जाने वाली दूरी ही है। लेखक ने इन रिश्तो में सिमट आए अकेलेपन, भय और जड़ता को इस कहानी में उभारा है। अवसर जैसी एकाध कहानी को छोड दें तो इस संग्रह की यौन सम्बन्धो की कहानियाँ, सम्बन्धो की जटिलताओ का एहसास कराने वाली हैं।

पारिवारिक तनाव या टूटन की कहानी है ऋण जिस का चित्रण लेखक ने निसंगता से किया है। भूल, अवरस और प्रलाप इस संग्रह की निहायत मामूली कहानियाँ हैं।

कृष्णबलदेव वैद की अधिकांश कहानियाँ आत्मालाप और सबोधन की शैली में हैं। यह, तत्वतः, स्वयं को सम्बोधित बातचीत है। इसका स्वर तल्ख और पैना है और भीतरी विघटन को उभार पाने में सफल है। ध्यान देने की बात यह है कि आत्मालाप और आत्मसम्बोधन की शैली में रचित होने के बावजूद ये कहानियाँ आत्म-केन्द्रित नहीं हैं। इनके बीचो बीच अन्तर्मन्थन चलता रहता है जिसके माध्यम से लेखक भीतरी कोहराम को शब्दबद्ध करता गया है।

अभिव्यक्ति के इस तरीके मे बाहरी परिवेश और संदर्भ महत्वहीन या धुधले रह जाते हैं और तीव्र आंतरिक उन्मेष में कहानी का तंत्र छिन्न-भिन्न हो जाता है। महीपसिंह अपनी कहानियो में परिवेश और आतरिकता में सन्तुलन बनाए रखने की कोशिश करते हैं। उनकी कहानियो में (कहानी-संग्रह घिराव राजपाल एण्ड संज) जीवन के सूक्ष्म पहलू और वास्तविक संदर्भ हैं। वे उलझी हुई पेचीदा मन स्थितियो को उठाते हैं, कभी-कभी उन्हें गहरे मानवीय अभिप्रायो से जोड भी देते हैं। महानगर जीवन की विसंगतियों और तनावो के बीच जी रहे पात्रों की दुहरी मानसिकता का बोध उनकी कहानियाँ कराती हैं। इनमें जहाँ अहंकेन्द्रित और कुठाग्रस्त पात्र हैं वहाँ भयाक्रांत और 'हिपोक्रेट' पात्र भी हैं। इन पात्रो के जरिये आज की जटिल और तनाव-पूर्ण मन स्थितियों और द्वद्वपूर्ण मानसिक दशाओं को, सम्बन्धो के आधार-फलक पर चित्रित किया गया है। उनकी दृष्टि सम्बन्धों के चित्रण तक नहीं रुकती बल्कि उस आदमी को टोहने और पहचानने का प्रयत्न करती है जो तमाम सम्बन्धो के बीचोबीच बिछा हुआ है।

इस संग्रह की कहानियो में सम्बन्धों का तनाव ही नहीं, तनाव में सहज हो पाने की दृष्टि भी व्याप्त है। यह दृष्टि कहाँ आरोपित है और कहाँ रचना का अवि-भिन्न अंग, इसे परखने के लिए हम तीन कहानियाँ लेते हैं—पारदर्शक, घिराव और कील। इनमें सम्बन्धो के तनाव को अलग-अलग स्तरों पर उठाया गया है। पारदर्शक कहानी में जीवन की भयाक्रांत स्थितियों का बोध कराने का प्रयास किया गया है।

कहानी का 'वह' तनाव को बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर सहता है। पर उसकी तनावपूर्ण मन स्थितियाँ सम्बन्धों की जटिलता का एहसास नहीं कराती। यह अहसास भापी कराती है। वह तनाव में सहज हो पाने के लिए स्वय से जूझती है। तनाव में सहज हो पाने की दृष्टि यहाँ रचना के भीतर से उभरी है। अत रचना का आवयविक अग है। इसके विपरीत घिराव कहानी मे मूल सवेदना रचना स्तर पर व्यक्त न हो कर सरलीकरण का शिकार हो गई है। इसमे भी सम्बन्धो के तनावपूर्ण होते जाने की अभिव्यक्ति है। सिम्मी भीतर के तनाव और आतक से पीडित है। अमर उस बुरी तरह से घेरे हुए है। लेकिन उसे यह तीव्र एहसास है कि यह घिराव अमर की तरफ से नहीं, उसके मन का ही है। इस मूल मन स्थिति के चित्रण के साथ-साथ इस कहानी की सरचना मे एक अन्य घटना का भी सयोजन किया गया है जो बाहरी घिराव या आतक के स्थूल रूप की ओर इशारा करती है। लेकिन, लगता है कहानी की बुनावट में इस घटना के विधान के लिए कोई गुजाइश न थी। सम्बन्धो के तनाव का एक अन्य स्तर कील कहानी में है। इसमे मनोग्रथियों के शिकजे से उबरने की छटपटाहट का बोध कराया गया है। कहानी मे मोना और उसके डैडी जटिल चरित्र बन पाए है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण उसके डैडी है जो उससे कहते रहते हैं कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढाते हैं कि वह किसी लडके को पसद करने की मन स्थिति में आ ही न सके। मोना इस ग्रथि से मुक्त होकर जीना चाहती है और इसकी गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व में कोई खास बात नहीं। कील एक प्रतीक है अहकेंद्रित डैडी के प्रति मोना की असामर्थ्य के टूटने का। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धो में सहज हो पाने की प्रक्रिया इस कहानी की रचनाशीलता में व्याप्त है।

इस सग्रह की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है युद्ध मन। यह युद्धग्रस्त मन-स्थिति को उजागर करने वाली कहानी है। युद्ध का आतक यहाँ मानसिक स्तरों पर सक्रमित हुआ है। युद्ध को यहाँ एक समस्या के रूप में नहीं, एक स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह स्थिति कोहली साहब द्वारा स्वत वरण की गई है जो इस मानवीय स्थिति के दर्द तक पहुँचाती है। सवेदना प्रकट करना एक एक चेहरा उसे बडा घृणित सा लगता है। इसलिए वे उस आगन में जो सिर्फ उनका है, एकमात्र उनका, उसमे वे किसी की हिस्सेदारी नहीं चाहते। 'यदि मर किसी बच्चे या सम्बन्धी को शहीदी मिली तो उसका सुख या दुख सिर्फ मेरा होगा। उस मैं अकेला भोगूँगा, किसी के साथ मिल कर नहीं। इस कहानी मे युद्ध के आतक से पैदा हुई मन स्थिति का, बिना भावुक हुए, बोध करा दिया गया है। यह कहानी इस बात का प्रमाण है कि लेखक पात्रो को ठोस बाह्य घटनाओ और स्थितियो मे डाल कर उनके भीतरी तनाव या स्थितियो के व्यग्य को उभारता है।

महीप की कहानियों मे व्यग्य का लक्ष्य प्राय सामान्य, साधारण स्थितियाँ हैं जैसे पलियाँ, सोग भाव, दर्द आदि कहानियो मे। उनका व्यग्य भाव प्राय स्पष्ट और

प्रत्यक्ष रहता है। दर्द जैसी एकाध कहानी ही है जिसमे व्यग्य अमूर्त रह गया है। व्यग्य के माध्यम से कही-कही स्थितियो की विसगतियाँ भी उभरी हैं। उनके व्यग्य का तेवर तेज और पैना न हो करके हल्का-हल्का है—स्थितियो को चिढाने वाला, उन को काटता चलने वाला और उनकी विडम्बनाओ को उभारने वाला नही।

कृष्णबलदेव वैद की कहानियो मे जहाँ बाहरी स्थितियो के चित्रण की अपेक्षा एक आतरिक अमूर्त्त उभरता है, वहाँ महीप सिंह की कहानियो मे स्थितियो और सदर्भों की भौतिक सत्ता विद्यमान है, भले उन से सूक्ष्म मन स्थितियो की ओर व्यजना पूर्ण सकेत मिलते हैं। दूधनाथसिंह भी स्थितियो को स्थितिया के रूप मे ही लेते हैं पर वे कहानी के अतिम अश म पहुँचकर उन्हे सायास भीतर ढकेलते हैं और अभ्यन्तरी-करण का भ्रम पैदा करते हैं। उनकी कहानियाँ (कहानी सग्रह सुखान्त—रचना प्रकाशन, इलाहाबाद) बाहरी स्थितिया को भीतर प्रक्षेपित करने वाली है। यह प्रक्षे-पन (सुखान्त कहानी को छोड कर जिसमे यथार्थ अभ्यन्तरीकृत होकर सृजित हुआ है) अभ्यन्तरीकरण नही है। बाहरी परिवेश के अभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया मे ब्यौरो या विवरणो के लिए कोई जगह नही रह जाती। प्रक्षेपन और विवरणप्रियता दूधनाथ की कहानियो (केवल इस सग्रह के सदर्भ म) का एक बुनियादी द्वद्व है। आतरिक जगत् के विघटन और खोखलेपन या आत्म सघर्ष की ओर सकेत करने के लिए लेखक प्रक्षेपित वस्तु को चमकदार शिल्प के माध्यम से उठाता है या फिर बयानबाजी का सहारा लेता है। इस सग्रह की एक कहानी विजेता लें। इस कहानी के अतिम भाग मे पहुँच कर सभी घटनाएँ और स्थितियाँ आतरिक अर्थ सकेतो से सयुक्त होती चलती हैं। यह किसी के विरुद्ध नही, अपने विरुद्ध लडी जाने वाली लडाई है—अपने मुखौटो और मुलम्मा को तोड कर अपने यथार्थ की पहचान के लिए लडी जाने वाली लडाई। इस कहानी मे अपने ही घिनौने और मायावी चेहरे को पकडने की कोशिश है। कहानी का 'मैं' कहता है 'मैं जानता हूँ लेकिन मैं भागता रहता हूँ। और यह खूँखार, दयनीय टूटता हुआ अपना ही नरप्रेत डर कर मेरा पीछा करता है।' यह अपने भीतर का चक्रव्यूह है जिसमे व्यक्ति सतत सघर्षरत है। नरप्रेत एक प्रतीक है—अपने ही चारो ओर मॅडराते रहने का, उन तमाम आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियो का जिनके रहते वृहत्तर मानवीय आकाक्षा की बात बेमाने लगती है—'स्थितियाँ किस तरह आदमी के सच को झूठ मे बदल देती हैं। और आप चिल्लाते रहिए, कोई यकीन नही करता'। आदमी की बडी विडम्बना है 'मानवीयता किस तरह बेरहमी से मेरा पीछा कर रही थी और मैं भाग रहा था, इस तरह यह कहानी बाहरी धरातल से एकाएक छलाग लगा-कर अतरग धरातलो पर आ पहुँचती है और आज के आदमी के विघटन और विसगति की ओर सकेत करती है। पर इस विघटित और विसगतिपूर्ण मानसिक स्थिति को उखाडने के लिए कहानी के प्रारम्भिक विवरणो और पात्र की मन स्थिति के विस्तृत वर्णनो की क्या तुक थी? यही बात उत्सव कहानी के सबध

में कही जा सकती है। कहानी के शुरू के पृष्ठो मे लेखक ने एक-एक पात्र का रेखाकन प्रस्तुत करने का जो ढग अपनाया है वह पुराने कला नुस्खो की याद दिला देता है। यह न भी खटकता यदि कथा के समानान्तर एक अन्य अर्थ आन्तरिक स्तरो पर सक्रमित होता चलता। पर, यहाँ तो बाकायदा एक कथा है। इसके चलते इस कहानी को कथानकहीन या कथा के ढाँचे को तोडने वाली कैसे कहा जा सकता है? शिनाख्त कहानी मे भी एक भरी-पूरी कथा है। इसमे एक विवाहित मर्द-औरत के यौन-सबधो की व्यजना है। बर्षो पहले मर्द औरत के पारस्परिक यौन-सम्बन्ध थे। शुरू शुरू म वे एक-दूसरे को हसरत से देखते थे, लेकिन बाद मे 'उनके पास एक दूसरे के लिए हिकारत, नफरत, उपहास, जहरबुझे गदे शब्द थे जिन्हे वे रह-रह के अपने एकात मे उगला करते।' और अब इतने वर्षों बाद वे एक-दूसरे को यों ही नही निकल जाने देना चाहते थे। यहाँ तक कहानी सपाट और स्थूल ढग से चली है। पर सयोग के बाद के जटिल एहसास को लेखक ने मानव-अस्मिता से जोड दिया है: 'क्या मैं बता सकता हूँ कि वह कौन सी चीज थी जिसकी सहसा हमने मिल कर हत्या कर दी थी? क्या मैं उसकी शिनाख्त कर सकता हूँ। प्रेम या घृणा या वासना या स्वार्थ या सब कुछ का एक मिला-जुला नाटक? क्या मैं उसे पिन-प्वाइट कर सकता हूँ'? यह कहानी की केन्द्रीय सवेदना का स्थल है पर इस तक पहुँचने के लिए कथा-रस की जो लम्बी भूमिका तैयार की गई है उसकी क्या कोई सगति इस तरह की कहानी के लिए है? *स्वर्गवासी* कहानी भी विवरणो और ब्यौरो की भरमार की शिकार हुई है। कहानी मे 'वह' की मानसिकता को उभारने की कोशिश की गई है पर इसमे लेखक पूरी तरह से असफल रहा। *अबन्ध* कहानी म आज की उस स्थिति का चित्रण है जहाँ कोई सवाद सभव नही रह गया। आदमी सिर्फ बडबडाता है जिसका दूसरे आदमी से कोई सरोकार नही।

सुखांत इस सग्रह की एक लम्बी कहानी है जिसे लेखक ने एक स्वप्न कथा कहा है। इसे चार खण्डो—परिस्थिति, प्रत्यवलोकन, प्रतीक्षा और पुन दर्शन मे विभाजित करके बोझिल बना दिया गया है। इस कहानी में 'डेम्पर' को देखते हुए लम्बे चौडे विवरणो के लिए कोई गुजाइश नही थी पर यहाँ भी लेखक ने इसके लिए रास्ता निकाल लिया है। वैसे यह कहानी, भाव और कथन स्थिति के बावजूद, आज के आदमी की सही स्थिति का बोध कराती है। कहानी के अत की पक्तियाँ हैं 'मैं वही हूँ—अपने जमाने के गहरे विध्वसक अर्थो के भवर मे गुम," विदूषक और दार्शनिक के द्वद्व से जर्जर लेकिन ईमानदार'। यह आदमी दु स्वप्न म जागता रहा। *उसी के अन्दर, उसी से घिरा हुआ—अनवरत। वह अपने ही विरुद्ध सघर्षरत रहा* और औरो के लिए—माँ और पत्नी के लिए उसकी आन्तरिक टकराहट की प्रतिध्वनि बडबडाहट मात्र बनी रही। उमग, उत्साह और आतिवाहक प्रयत्न निरर्थक और अतीत की बात बनते गए। सारे सम्बन्ध गडबडा गए और एक अजीब-सा भसखरापन साधारण चरित्र बन कर चारो ओर फैल गया। आशा और प्रतीक्षा महज छल सिद्ध

हुई। लगा कहीं कुछ नहीं होगा। और फिर मूल्य धरातल पर यह चीख 'क्या इस सार्वजनिक प्रजनन गृह में अब कभी कोई मसीहा पैदा नहीं होगा?' यह लेखक की मूल्यगत छटपटाहट को व्यक्त करने वाली पंक्तियां हैं जो इसे मानवीय संगति प्रदान करती है।

गिरिराज किशोर की कहानियां (कहानी संग्रह रिश्ता और अन्य कहानियां राजकमल प्रकाशन) सम्बन्धों व तनाव को तनावहीन भाषा में व्यक्त करती है। इनमें जटिलतर होते हुए सम्बन्धों और मानसिक कुठाओं की अभिव्यक्ति सीधी और ठेठ है—कभी कभी सपाटता की हद तक। इनका रचना विधान इकहरा है। इन कहानियों में लेखकीय अनुभूति अनेक अर्थ-स्तरों पर संचरित होने के बजाय एक स्तरीय है।

इस संग्रह की शीर्षकहीन कहानी लें। इसमें दो मित्रों के सम्बन्धों और मन-स्थितियों में इस कारण अंतर घटित हो जाता है कि एक अफसर है और दूसरा क्लर्क। अफसर और क्लर्क के जीवन में एक ऐसी खाई है जिसे उनका बचपन का दोस्ती का एहसास भी पाट नहीं पाता। क्लर्क हीनताग्रन्थि से पीडित है। वह अपने अफसर दोस्त के सामने दब जाता है, उसकी सहजता खत्म हो जाती है। वह कहता भी है 'मैं हर अफसर और क्लर्क को पहले अफसर और क्लर्क मानता हूँ बाद में दोस्त, भाई और ससुर।' क्लर्क की पत्नी की 'फिक्सेशन' दूसरे प्रकार की है जो अफसर की मानसिकता के अनुरूप बैठती है। लेखक ने सम्बन्धों के इस मानसिक जटिल रूप को अत्यन्त सहजता से व्यक्त किया है। इसी तरह क्लर्क कहानी में क्लर्क के बद्धमूल संस्कार या मिजाज को पकड़ने की कोशिश की गई है। क्लर्क के अफसर बन जाने के दौरान की मनोवेदना और मानसिकता, दफ्तरी माहौल के यथार्थ के साथ-साथ इस कहानी में खुलती है। दो भाई भी कहानी में एक ऐसे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति का चेहरा उघडता है जो सूक्ष्म मानसिक सतह पर परजीवी है और दोहरी मानसिकता में जी रहा है। वह जिस बड़प्पन को ओढ़ता है उससे उसकी स्थिति और ज्यादा करुण हो उठती है। गाउन औसत दर्जे की कहानी है। इसमें लेखक ने शायद नए पुराने के बीच के तनाव को अभिव्यक्त करना चाहा है पर तनाव की जगह कहानी में सुनीता की मन-स्थिति अधिक उभरी है। लेखक को जिस तनाव की अभिव्यक्ति अभिप्रेत थी, उसका कोई बिंब नहीं उभरता।

इस संग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी रिश्ता है। यह मानवीय रिश्ते की विडम्बना की कहानी है। मकरी और गिरधारी में सम्पृक्त का रिश्ता है भी और नहीं भी है। मां और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहां गायब है। सम्बन्धों में न कहीं कृत्रिमता है न औपचारिकता। एक ठेठ और बेलौस जिन्दगी है। गिरिराज किशोर ने इस जिन्दगी की दहला देने वाली झांकी इस कहानी में प्रस्तुत की है।

गिरिराज किशोर की कहानियां रचना-विधान की दृष्टि से सीधी-सादी हैं पर वे सम्बन्धों के क्रूर अराजक संसार को खोलती चलती हैं। ●

परिवेश का यथार्थ और कला का अनुभव

रचनाकार के लिए (जो परिवेश को अन्तर्मन के स्तरों पर भोगता है।) परिवेश कोई ठोस भौतिक स्थिति नही, अनुभव का एक अविच्छिन्न हिस्सा है। इस अनुभव के साथ तात्कालिक और स्नायुविक उत्तेजनाएँ जुडी रहती हैं जो उसके कला का अनुभव बनने के रास्ते मे आडे आती हैं। परिवेश का सीधा अनुभव कला का अनुभव नहीं बनता। कला-प्रक्रिया अनुभव को तात्कालिकता और निजबद्धता से मुक्ति दिलाती है। इस अर्थ मे ही रचनाकार की दृष्टि की भी सगति है। रामदरश मिश्र की कहानियाँ (कहानी सग्रह खाली घर ज्ञान भारती प्रा० लिमिटेड) ही लें जिन मे कला अनुभव और जीवन दृष्टि का वैशिष्ट्य है, भले ही यह वैशिष्ट्य अपने मूल रूप मे रागात्मक कोटि का है। इससे उनकी कहानियो मे 'वस्तु की विविधता तो है पर यह विविधता बोध के विभिन्न स्तरो की नही है। सभी कहानियो मे, सन्दर्भों की भिन्नता के बावजूद भावात्मक सबधो का द्वन्द्व व्याप्त है जिसे रागात्मक दृष्टि बाँधे हुए है। उदाहरण के तौर पर कुछ कहानियाँ देखी जा सकती हैं। चिट्ठियों के बीच कहानी मे निजी और गाँव की परेशानियों के बीच फँसे व्यक्ति का चित्रण है। कहानी का डा० देव शहर मे रहता है पर 'घर से' गाँव से जुडा हुआ है, समझ से नही, एक आतरिक राग-लय से। शहर मे रहते हुए उस पर परिवार की जरूरतो के, गाँव मे रह रहे अपने आत्मीय जनों के, और परिस्थितियो के दबाव हैं। ये दबाव भावात्मक सबंधों को तनावपूर्ण बना जाते हैं। सबधो का तनाव और द्वन्द्व इस कहानी मे मानसिक स्तरो पर फैलता चलता

है। जिसे लेखक ने रागात्मक रचना-दृष्टि से सयोजित करना चाहा है। इस दृष्टि को लेखक के आत्मीय अनुभव निर्धारित करते है जिनके मूल प्राथमिक बोध से लेखक स्वय को नहीं काट पाता और उस हद तक तटस्थ नही हो पाता। मिश्रजी की कहानियो मे, इसीलिए रागात्मक और एक गहरी सपृक्ति का भाव है। इस भाव को लेखक ने सन्दर्भो मे अनुभव के सघन रूपो से जोडा है अपनी कहानी **मां सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो** मे। इस मे गाँव से जुडे व्यक्ति का दर्द व्यक्त है जिसे लेखक ने एक वृहत्तर आयाम मे प्रस्तुत किया है। बाढ आने और अकाल पडने से गाव की जो दुर्दशा होती है और जो त्रासदी वहाँ घटती है, उसका बडा यथार्थ चित्रण इस कहानी मे किया गया है। गाँव की दुर्दशा और दलव्यापी पाखड का सन्दर्भ इस कहानी की सरचना मे गुथे हुए है। यह कहानी लेखक की सश्लिष्ट और सवेदनात्मक रचना-दृष्टि को उजागर करती है। पर, **भटकी हुई मुलाकात** कहानी मे लेखक की दृष्टि रागात्मकता से एक कदम आगे बढ कर भावुक हो उठी है। इस भावुकता को वस्तु, कथन-प्रकार और भाषा के स्तरो पर देखा जा सकता है। **सीमा** कहानी मे लेखक की रागात्मक दृष्टि सवेदनात्मक और मानवीय धरातल पर आसीन है। इस कहानी मे एक अभिशप्त लडकी की व्यथा को आका गया है। प्राकृतिक उपकरण जैसे धूप पेड, चिडिया, चील और क्वार की दुपहर—सीमा की मानसिक दशा को उभारने के लिए आए हैं। 'चील का टिहाना' उसकी करुणा को गहराता है और उदासी का एक ध्वनि-चित्र प्रत्यक्ष हो उठता है। इस कहानी की सरचना मे गुथे हुए प्रतीक और बिम्ब और भाषा का काव्यात्मक रुझान लेखक की रागात्मक रचना दृष्टि की गवाही देते हैं।

इस सग्रह मे कुछ अन्य कहानियाँ भी हैं जो गाँव और शहर के रागात्मक अन्त सबधो से जुडी हुई हैं जैसे खाली घर, एक और यात्रा, **खडहर की आवाज, एक औरत, एक जिन्दगी, बादलों भरा एक दिन, छूटता हुआ नगर और मुक्ति** इन मे से **खडहर की आवाज** और **मुक्ति** उल्लेखनीय कहानियाँ है जिन मे रचना-दृष्टि का व्यापक और तटस्थ रूप है। **खडहर की आवाज** कहानी के पीछे भी एक प्रौढ दृष्टि है जो गाँव के स्कूल और उस से जुडी स्मृतियो मे पडित जी के व्यक्ति-चित्र को उभारने के बहाने, समस्त सास्कृतिक विघटन को प्रत्यक्ष कर देती है। **मुक्ति** कहानी मे लेखक की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सतुलित और तटस्थ है। इस कहानी मे चदा की यौन-वासना और किसी के साथ उस का भाग जाना, यान्त्रिक और व्यापारिक जीवन-पद्धति की गिरफ्त से मुक्त होने की उस की तीव्र छटपटाहट को व्यक्त करता है।

रागात्मक दृष्टि अपनाने से यह खतरा जरूर रहता है कि कही एक पक्ष अधिक चटकीला और अतिरजित न हो जाए। लेखक ने इस खतरे से बचने की भरसक कोशिश की है पर एकाध कहनियों मे (जैसे लाल हथेलिया) मूल सवेदना सपाट और सरलीकृत हो गयी है और 'ट्रीटमेंट' एकपक्षीय लगता है। पिता कहानी मे

भी दो पीढ़ियों के अंतर को अंतर्द्वन्द्वों के माध्यम से अतिनाटकीय बना दिया गया है और एक बात इस कहानी को 'वास्तव' या 'एसेंटिक' अनुभव नहीं बनने देती।

इन कहानियों में गाव और शहर के दोहरे सन्दर्भों मे जी रहे व्यक्ति की छटपटाहट और पीडा व्याप्त है। इनमे निजी और गाव की अथवा गाँव और शहर की परेशानियो, विभीषिकाओ और विघटित स्थितियो का चित्रण किया गया है। ये कहानियाँ सिर्फ गाँव या सिर्फ शहर की कहानियाँ न हो कर गाँव और शहर की समान्त चेतना की कहानियाँ है।

वेद राही की कहानियो का ससार 'महानगर का जटिल और उलझा हुआ ससार' है जिसे उसने सबधो के धरातल पर 'परिकल्पित' किया है। उस ने अपने परिवेश की घटनाओ और स्थितियो को कहानी के रचना-विधान मे गूथ कर इस ससार को उजागर किया है। वे अपने परिवेश की घटनाओ या स्थितियो को ले कर कहानी की बुनाई म जुटते हैं (कहानी-सग्रह दरार, उमेश प्रकाशन, दिल्ली) और उन के माध्यम से किसी जटिल मन स्थिति को उभारने और सप्रेषित करने का प्रयत्न करते हैं।

वे परिवेश के यथार्थ को घटनाओ और स्थितियो के सयोजन के माध्यम से व्यक्त करते हैं और कहानी के सरचनात्मक विधान मे (इस सग्रह की तीन कहानियाँ दरार, हर रोज और बर्फ के सदर्भ में) ऐसे सकेत देते चलते हैं जिससे कहानी की भौतिक स्थिति जटिल मन स्थिति का बोध कराती जाती है। इस सग्रह की एक कहानी दरार लें। ऊपर से देखने से लगता है कि यह युद्ध की कहानी है पर यह युद्ध की कहानी न हो कर युद्ध के भय और आतक से बनी मानसिकता और उससे उत्पन्न सबधो में व्याप्त हो जाने वाले मनोवैज्ञानिक तनाव और दूरी का बोध कराने वाली कहानी है। भावात्मक तनाव की स्थिति मे ध्यानसिंह का आत्मरक्षा के मोह में पड कर प्रजनन पीडा से तडप रही अपनी पत्नी लज्या को छोड कर भाग जाना और फिर खतरे के टल जाने की सूचना पा कर उसके पास लौट आना, सबधो के भावात्मक रूपान्तरण की ओर सकेत है। ध्यानसिंह और लज्या के सबधो में सूक्ष्म मानसिक धरातल पर पड़ने वाली इस दरार की ओर कहानी के अत में सकेत किया गया है 'वह बढ़ता रहा है लेकिन चाह रहा है, लज्या उस की बात न सुने। लज्या सब जानती है, ध्यानसिंह को मालूम है। वह लज्या की ओर देख भी नहीं पा रहा। उस ने कनखियों से देखा—वह उस के साथ-साथ चल रही है। दोनों के बीच एक हाथ की दूरी है पर ध्यानसिंह को लग रहा है वह लज्या से बहुत दूर हो गया है—बहुत ही दूर। एक वृहत्तर सदर्भ मे सबधो मे व्याप्त हो जाने वाली दूरी को लेखक ने कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। यह किसी चालू धारणा या मुहावरे की देन न हो कर ठोस यथार्थ सदर्भ से उत्पन्न बोध है जो कहानी के आन्तरिक स्तरो मे रचा हुआ है।

इस सग्रह की एक अन्य कहानी है हर रोज जो आज के नगर जीवन की यान्त्रिकता और भयावहता का बोध कराती है। साठे रोज सुबह साढे आठ बजे बोरावली से ट्रेन मे बैठता है, चर्च गेट पर उतरता है, शाम को चर्च गेट से बोरावली की ट्रेन पकडता है और घर पहुँचता है। हर रोज का यह यात्रिक क्रम उसे भीतर से सोख रहा है। मानव कला और सहानुभूति उस के लिए निरर्थक हो गये है। साठे देखता है – ट्रेन के दरवाजे पर खडे, आखें बद किए एक व्यक्ति को जो गाडी की तेज गति के साथ झूल रहा है। साठे सोचता है इस तरह से झूलता हुआ वह आदमी किसी समय भी बाहर गिर सकता है। क्यो न बाह पकड कर वह उसे सीट पर बैठा दे। साठे ने आगे बढना चाहा, पर रुक गया, ख्याल आया कि यह तो आम बात है। उसकी सोच का रुख ही बदल गया। और वह आदमी चलती ट्रेन के दरवाजे के पास झूलता हुआ गिर गया और मर गया। महानगर मे सहानुभूति शून्य होते जाने का यह रोज का क्रम है जिसके माध्यम से लेखक ने मानव नियति को भयावहता का साक्षात्कार कराया है।

घटना-सयोजन को अभिव्यक्ति के एक साधन के रूप म अपनाने से यह डर बना रहता है कि कही लेखक कथ्य के सरलीकरण या सपाट कथन का शिकार न हो जाए। रिक्तता, दुर्घटना और घाव ऐसी ही कहानियाँ है जिन मे सवेदना सरलीकृत है और अभिव्यक्ति सपाट। इन की 'वस्तु' मे भी नवीनता नही है। बर्फ कहानी का कथ्य भी नया नही है पर इस कहानी का प्रस्तुतीकरण और इसकी सरचना कलात्मक है जिससे वस्तु का पुरानापन खटकता नही। इस कहानी मे कथ्य का उतना महत्त्व नही है जितना गोपीनाथ की पत्नी की सवेदनात्मक स्थिति का। उसके लिए बर्फ बाहर ही नही गिर रही बल्कि उसके अदर भी जम गई है। बाहरी प्राकृति और अन्तरिक प्रकृति मे कही कोई अन्तर नही रह जाता 'मीलो तक फैली हुई बर्फ उसके भीतर जमती जा रही थी।' भीतरी मौन की यह निरीह करुणा मानसिक स्थिति है जहा शब्द चुक जाते है।

इस सग्रह मे फिल्मी जीवन से सबद्ध कुछेक कहानियाँ भी हैं जैसे खास-उल-खास, पचहत्तरवें वर्ष का एक दिन और आर्टिस्ट। ये कहानियाँ एक अछूते परिवेश को सूक्ष्मता से उद्घाटित से करती हैं। इस परिवेशगत बोध की प्रामाणिकता इन कहानियों मे है, भले ही यह बोध 'पचहत्तरवें वर्ष का एक दिन' और आर्टिस्ट कहानियों मे रचनात्मक न पा सका हो पर खास उल-खास मे यह बोध गहरे स्तरो पर सृजित भी हुआ है। इस कहानी मे वह की उपजीवी (पैरासाइट) प्रवृत्ति और उससे उत्पन्न निरीहता और लाचारी कलात्मक अनुभव के रूप मे उभरी है।

बदीउज्ज़मा का 'ससार' (कहानी सग्रह अनित्य) वेद राही के ससार से थोडा भिन्न है। इसम महानगरीय बोध भी है और आँचलिक भी। इनमे दोनो

की संगति या तनाव का नहीं, दोनों के प्रसंग में आदमी के कटते टूटते जाने की संवेदना व्यक्त है। बदीउज्ज़मा की कहानियाँ अपनी ज़मीन से, अपनी परम्परा से अपने रीति-रिवाजों से स्वयं अपने से कटते चले जाने का तीव्र एहसास जगाती हैं। यह पुरातन से या अतीत मूल्यों से कटने और टूटने का एहसास है। इन कहानियों की संवेदना संक्रमणकालीन है जिसे लेखक ने भावुक हुए बग़ैर अभिव्यक्त किया है। ये कहानियाँ नए और पुराने के द्वन्द्व तथा टकराहट की कहानियाँ हैं। मोहभंग के दौरान की कल्पना और पीड़ा की गहरी मानवीय संवेदना से कहानियाँ जगाती है।

इस संग्रह की एक कहानी है घर। बाप-दादों के गाँव (नासिरपुर) और घर से ममूद को कोई लगाव अनुभव नहीं होता।' 'यहाँ कोई भी चीज़ नहीं है जिस से वह *निकटता महसूस कर सके। एकाकीपन और अजनबीपन का यह एहसास न* तो उसे कभी पटने में हुआ जहाँ वह पैदा हुआ था, जहाँ उस का घर था और न ही दिल्ली में जहाँ वह इतने वर्षों में रह था। उसके मस्तिष्क पर यह विचार हावी होता जा रहा था कि वह इस जगह के लिए बिल्कुल अजनबी है। नासिरपुर से उसका कोई रिश्ता नहीं है और जितनी जल्दी वह यहाँ से जा सके, अच्छा है।' ममूद का पिता गाँव के घर से अब भी संस्कारों से, आन्तरिक राग लय से जुड़ा हुआ है पर ममूद के लिए कोई आन्तरिक सूत्र नहीं जो उसे 'घर' से कटने से रोके। लेखक ने पीढ़ियों की समानान्तर सोच का मार्मिक चित्रण इस कहानी में किया है। परदेसी कहानी में यद्यपि अभिव्यक्तिगत स्थिति है तथापि यह कहानी वतन से उखड़े हुए आदमी की कल्पना और यातना को उजागर करती है। छाको पाकिस्तान का नागरिक बन जाने के बावजूद अपने वतन की ज़मीन से उसकी गंध से उसके त्यौहारों, गाँव के मुहर्रम के अखाड़े से अपने को आन्तरिक स्तरों पर जुड़ा हुआ पड़ता है। कहानी का 'मैं' छाको की पीड़ा से उद्वेलित होकर कहता है 'मैं जानता हूँ कि क़ानून का उसकी ज़बान से कोई ताल्लुक नहीं है। *पर न जाने क्यों एकाएक मेरे दिमाग़ ने जैसे काम करना बंद कर दिया है। क़ानून* की मोटी मोटी किताबें जैसे छाको के आँसुओं में डूबती जा रही हैं और मैं उस की गहराई में बड़ी शिद्दत से यह महसूस कर रहा हूँ कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है जहाँ की हर चीज़ उसके लिए अजनबी है।' लेखक ने इस कहानी में एक अछूते क्षेत्र के लोगों के आत्म परायेपन और अजनबीपन के बोध को, गहरी मानवीय करुणा से अंकित किया है। इसी तरह बिकते साए कहानी मौलवी इसहाक की दुखद मानसिक स्थिति का हाजी अब्दुर्रहीम की सम्पन्न स्थिति के समानान्तर, बोध कराया गया है। हाजी अब्दुर्रहीम के मकान से आई हुई रोशनी को अपने आँगन में देख कर मौलवी इसहाक तिलमिला उठता था। उनका जी चाहता—रोशनी के इस टुकड़े को उखाड़ फेंके, इसे कभी घर में घुसने न दे। उन्हें लगता हाजी अब्दुर्रहीम के मकान से आया हुआ रोशनी का यह टुकड़ा उनका मुँह चिढ़ा रहा है। जैसे वह उनके घर का सारा हाल जानता है। जैसे उसने उनकी दुखती रग पकड़ ली है।

इस संग्रह की एक महत्वपूर्ण कहानी है चौथा ब्राह्मण। यह कहानी आज के मानव-स्थिति को करुणाजनक ढंग से उभारने वाली है। 'मेरी ट्रेजेडी यह है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूँ लेकिन खुद को इससे मुक्त नहीं कर सकता। यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है। मैं जानता हूँ इस दौड़ का कोई अंत नहीं है।' लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा चाँदी और सोने को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और हमारे सिर पर एक-एक चर्खी घूम रही है। दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती हुई चर्खी के साथ आज हम सबकी सबसे बड़ी वास्तविकता है जिसे लेखक ने एकालाप की शैली में सरलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है।

इस संग्रह की कुछेक कहानियां जैसे वैक्यूम, श्रीमहन्त, वाक़, एक दायरा और विरेचन और ऋण निहायत सामान्य और सपाट कहानियां हैं।

श्रवण कुमार की कहानियां (कहानी संग्रह 'अंधेरे की आंखें' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ६) आस-पास के परिवेशगत यथार्थ को आकलित करने वाली कहानियां हैं। दफ्तर बाबू, अफसर और नव धनाढ्य वर्ग से यह परिवेश बना है। इस परिवेश से पाठक का अति परिचय है। ऐसी कहानियों के सम्बन्ध में यह डर बना रहता है कि लेखकीय संवेदना सरलीकृत न हो जाए या आत्मकथा या 'केस हिस्ट्री' न बन जाए। इन कहानियों में यह परिवेश नव धनाढ्य वर्ग का है। इस वर्ग के सम्बन्ध में लेखक ने अपनी समझ एहसास और दृष्टि को बवंडर कहानी में स्पष्ट लिखा है विद्रोह! विद्रोह! इस वर्ग के प्रति विद्रोह ही करना होगा। एक दिन तो मुझे लगा था कि मेरे नीचे से धीरे-धीरे एक नया वर्ग उभर रहा है, कुकुरमुत्ते की तरह, यानी 'नुवे रिश' वर्ग – नव धनाढ्य। वे लोग जिन्होंने किसी-न-किसी तरह पैसा बटोरने की कला सीख ली है। इस परिवेश की अभिव्यक्ति लेखक गम्भीर रूप में या हल्के फुल्के मज़ाकिया लहजे में या व्यंग्य के अन्दाज़ में कर सकता है। श्रवण कुमार ने गम्भीर प्रतिक्रिया के रास्ते को अपनाया है पर शैली प्रायः आत्म-कथात्मक है। ये कहानियां रचना-स्तर पर कैसी हैं इसे कुछेक कहानियों के आधार पर रखा जा सकता है।

इस संग्रह की विशेष कहानी में दफ्तरी माहौल का चित्रण आदमी की यातना को ठहराने वाला है। इसमें एक साधारण आदमी है—अतीत के स्वप्नों और वर्तमान के दुःस्वप्नों के बीच पिसता हुआ। लेखक ने सामान्य व्यक्ति की पीड़ा और विडम्बना को इस कहानी में बड़ी सफलता से व्यक्त किया है 'कभी किसी ने फीनिक्स को बदलते देखा है? मैं एक फीनिक्स हूं जिसे मर कर भी जिन्दा होना है। आशा का सन्देश जो पहुँचाना है, चाहे मेरे दिल में कोई आशा न हो, यह स्थिति की विडम्बना है कि हमें दूसरों को आशा का सन्देश पहुँचाना है, भले ही हमारे दिल में कोई आशा न हो। बवंडर कहानी में लेखक केवल कथन के स्तर पर ही

नहीं, रचनात्मक स्तर पर भी अपनी बात कह सका है और आप देखेंगे कि कुछ दिनों में आपके शरीर में नयी हड्डियां बनने लगी हैं और उन पर नया मांस चढ़ने लगा है। मैंने इस 'नये रिश्ते' कलाम के सामने अपना माथा टेक दिया है। मैं गुलाम हूं, गुलाम हूं, तुम्हारा और ताउम्र तुम्हारा गुलाम रहूंगा, यदि यह सिलसिला नहीं बदला तो।

इस संग्रह की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है अन्धेरे की आंखें। इसमें मानव स्थिति की यातना कथित न हो करके व्यंजित है। ऊपरी अर्थ की परत के नीचे एक अधिक गहरा और व्यापक अर्थ कहानी के शुरू से लेकर अन्त तक चलता है। 'पटेल' के चरित्र की क्रूरता कहानी में धीरे-धीरे उभरती है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने फायदे के लिए हर चीज़ को निचोड़ने का फन जानता है, वह धोती का लंगोट बनाए पहाड़ी नदी की शिलाओं में अटकी हुई लकड़ियां निकाल लेता है और निरीह बकरी की जान ले लेता है 'एक खूंटी से पिछली टांगों से बंधी बकरी लटक रही है और पटेल' जी बड़ी होशियारी से धीरे-धीरे उसकी खाल उतार रहा है। यह कहानी एक औसत स्थिति या सामान्य अनुभव की कहानी न हो करके, मानव स्थिति के कलात्मक बोध की कहानी बन गई है।

इस संग्रह की कुछेक कहानियां दैनिक जीवन के सामान्य अनुभवों या व्यक्ति के चित्रण की कहानियां बन कर रह गई हैं जैसे **धुआं, बीवियां और बीवियां, प्रभाव-पूर्ति, पहला दिन, भिखमंगे, दबाव, नंगे** आदि कहानियां। इन कहानियों में लेखक न तो नव धनाढ्य वर्ग का चित्रण कर सकती है और न उस कार्य वर्ग की जटिल अनुभव के रूप में सम्प्रेषित कर सका है। 'मैं और वह' कहानी में एक स्थिति यह है जिसका कोई गहरा एहसास कहानी नहीं कराती। 'बच्चा' कहानी आर्थिक विपन्नता में जकड़े हुए पति-पत्नी की मन स्थिति का चित्रण तो करती है पर नव धनाढ्य वर्ग के प्रति स्नायुविक उत्तेजना के कारण ('कैसे कैसे इन हरामजादों से छुटकारा मिलेगा?' 'कब तक', कब तक हम इन के पंजों में लाचार से फंसते रहेंगे)' भाषा का मुहावरा तो अतिरंजित बन गया है पर वह टकराहट सम्भव नहीं हो सकी है जो शायद लेखक को अभिप्रेत रही हो।

नगर-बोध
और रचना-रूढ़ियाँ

आज की कहानी नगर-जीवन और नगर-संस्कृति के जटिल सन्दर्भों से, अनिवार्यतः, जुड़ी हुई है। नगर-जीवन की स्थितियों और संवेदनाओं का एक साथ अनेक रचनात्मक स्तरों पर अभिव्यक्त करने की कोशिश आज की कहानियों में की गई है। इन कहानियों का सन्दर्भ ही नहीं, रचना-संसार भी शहरी है। शहर में रहते हुए व्यक्ति पर दोहरे तिहरे दबाव हैं — राजनैतिक सत्ता का दबाव, यान्त्रिकता का दबाव और यौन स्वच्छन्दता की विस्फोटक स्थिति का दबाव। इससे नगर में रहने वाला व्यक्ति पाता है कि सब कुछ छिन्न-भिन्न है, विशृंखलित और विपर्यस्त है और सार्थक होने के तमाम प्रयत्न निरर्थकता की ओर ले जाते हैं। वह पाता है कि प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, भ्रातृ-भावना और श्रद्धा आदि के युगों पुराने आद्य-संस्कार या 'आर्कटाइपल बिम्ब' अपने स्थान से खिसक चुके हैं और मिटने की प्रक्रिया में हैं। उसके सामने है मूल्यगत विघटित स्थितियों की भयावहता और उसकी अन्तश्चेतना में घर बैठा है— अकेलापन, अजनबीपन और त्रास। उसे गहरा एहसास है मानव-सम्बन्धों की जटिलता और विडम्बना का। यही नगर-जीवन और नगर संस्कृति का बोध है जिसे सर्जनात्मक धरातल पर अभिव्यक्त करने की कोशिश आज का कहानीकार करता है।

नगर-बोध की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति आज की कहानियों में किस स्तर पर हुई है या हो रही है, इस पर विचार करने के लिए तीन कहानी-संग्रहों को लिया जा

सकता है। पहला सग्रह है सिद्धेश का अर्थहीन वह मैं, दूसरा सग्रह है ज्ञानरजन का फेन्स के इधर और उधर और तीसरा है राजेन्द्र यादव का अपने पार। सिद्धेश के कहानी सग्रह अर्थहीन वह मैं की कहानियो का सन्दर्भ और परिवेश महानगर का है। इन कहानियो मे महानगर मे रहने वाले व्यक्ति की कुठाग्रस्त मानसिक दशा और अर्थहीन होते जा रहे सम्बन्धो का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। पर, इन कहानियो मे अर्थहीनता के बोध की अपेक्षा, अर्थहीनता की स्थितियो का सतही रूप, कथन और विवरण अधिक है। कुछ कहानियाँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं। पहली कहानी मन का 'वह' एक शादीशुदा व्यक्ति है जो रोजमर्रा की जड-व्यवस्था के कारण मन से मर चुका है। प्रेम फिजूल है उसके लिए और लडकी को भोगना केवल मन बहलाव। जिन्दगी के नाम पर जो कोशिश उसके मन मे थी, वह समाप्त हो गई है। इस कहानी मे अर्थहीनता की स्थितियो का चित्रण तो है पर, अर्थहीनता का सवेदनात्मक धरातल यहाँ नही है। यह कहानी एक शहरी व्यक्ति के जीवन की मानसिक जडता का कथन-भर करती है, कोई बोध नही जगाती। दूसरी और तीसरी कहानियो मे यौन विकृतियाँ और फूहड स्थितियो के विवरण दिये गए हैं। मत्स्यगध और फोडा कहानियो मे कुठाग्रस्त मानसिक स्थितियो का अकन भोथरा और सतही है। लाश कहानी मे सहानुभूतिशून्य मन स्थिति को आकने का प्रयास किया गया है पर दृष्टि की निष्क्रियता (तटस्थता नही) के सिवा कुछ हाथ नही लगता। नपु सक कहानी मे सेक्सगत असगत स्थिति का चित्रण है। सैक्स के प्रत्यक्ष और खुले भोग को देखकर, सैक्स भावना के मर जाने या सभोग मे असमर्थ हो जाने या नपुसकता की दयनीय स्थिति मे शरीफाना ढग से घूमने जैसी प्रतिक्रिया कहानी के 'मैं' मे पैदा होती है। यह प्रसगत स्थिति जितनी मानसिक निरीहता की सूचक है उतनी अर्थहीनता की नही। अहसास कहानी मे एक मामूली-सी स्थिति के सन्दर्भ मे रीतपन की अनुभूति को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। पर, यह अनुभूति अन्त मे आरोपित-सी लगती है।

इस सग्रह की तीन कहानियाँ—चेहरे, किनारा और समुद्रगाथा विशेष उल्लेखनीय हैं। चेहरे एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो मन प्राण से टूट हो चुका है जिसकी स्थिति घर मे और बाहर एक अजनबी की सी है। उसे कही कुछ भी 'इम्प्रेशन' नही मिलता है। वह मानता है कि चेहरे की कभी सही पहचान नही हो सकती क्योकि चेहरो पर हर वक्त मुखौटे चढे रहते है। उसके चेहरे पर भी हर समय एक मुखौटा चढा रहता है—प्रेमिका से बात करते हुए या पत्नी से बर्ताव करते हुए। मानवीय सम्बन्धो मे आ गई एक अजीब प्रकार की कृत्रिमता और ढोग को उघाडकर सामने रखा गया है। मुखौटा के पीछे के नगेपन और घिनौनेपन की ओर इगित करते। कहानी के अन्त मे एक भयानक स्वप्न के जरिये आदमी के बहुरूपियापन और विकलागता का बोध कराने की कोशिश की गई है। किनारा कहानी मे एक ऐसी औरत की मन स्थिति का चित्रण है जिसके लिए कही कोई अर्थ नही रह गया है।

वह जैसे किनारे लग चुकी है और नितान्त सहानुभूतिशून्य हो चुकी है। अपनी बूढ़ी माँ और सज्ञाविहीन पिता के प्रति। किनारा यहाँ खालीपन का अर्थ देने वाला प्रतीक शब्द है। समुद्रगाथा कहानी के 'मैं' को प्रेमिका और पत्नी के पिछले प्रसगो की याद आती है—सहज आसक्ति से जुड़ी हुई। पर, कहानी के 'मैं' का यह कहना कि 'आदमी अपने मन से भले ही मर जाए, जीता दूसरे के मन से है', महज एक कथन है जिसकी सगति कहानी के पूरे 'टेम्पर' के साथ नहीं बैठती है। इन तीनो कहानियो मे नगरीय जीवन मे व्याप्त अर्थहीनता या व्यर्थता को, बोध के स्तर पर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न तो है, पर इस प्रयत्न की सफलता मे सबसे आड़े आती है उनकी भाषा। यह बात जोर देकर कहनी होगी कि सिद्धेश के पास शहरी जीवन के तनावो को अभिव्यक्त करने वाली भाषा नहीं है। भाषागत असमर्थता की वजह से इस सग्रह की कोई भी कहानी स्थितियो और सम्बन्धो की अर्थहीनता और तज्जनित बहुरूपियेपन, ढाग, सहानुभूतिशून्यता का कोई गहरा बोध नहीं जगा पाती है। इसका एक कारण यह भी है कि लेखक महानगर की व्यर्थतामूलक स्थितियो और अर्थहीन होते जा रहे सम्बन्धो से 'आब्सेस्ड' है। इस 'आब्सेशन' के कारण ही इन कहानियो मे यथास्थितिशीलता है। स्थितियो के प्रति लेखक के मानसिक रुख का इन कहानियो से कुछ पता नहीं चलता है। स्थितियो और सम्बन्धो के चित्रण मे भी रचनात्मक वैविध्य के बजाय एक-जैसा-पन है। दरअसल व्यर्थता बोध को अभिव्यक्त करने के लिए जैसी तटस्थ और बेबाक रचना-दृष्टि चाहिए वैसी इन कहानियो मे नहीं है।

ज्ञानरजन के पास ऐसी तटस्थ और बेबाक रचना-दृष्टि है। इस रचना-दृष्टि के कारण ही उनकी अधिकाश कहानियो मे वर्तमान स्थितियो और सम्बन्धो का अत्यन्त यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण हुआ है। ज्ञानरजन की कहानी शेष होते हुए की अन्तिम पक्ति है 'अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं है। अभी सक्रान्ति और अन्जाम की तरफ केवल शुरुआत हुई है।' यह कहानी मूल्य-स्तर पर अस्तित्व सकट का बोध कराती है। इस कहानी मे शेष होते हुए सम्बन्धो की प्रामाणिक पहचान कराई गई है। घर पहुँचने पर मझले की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य, औपचारिक, निरुत्साहित और ठडा रुख—वात्सल्य और स्नेह जैसी मनोवृत्तियो के स्रोत के सूख जाने का बोध कराता है। परिवार के सभी सदस्य स्वय मे सिमटे हुए हैं और एक दूसरे से अलग और कटे पड़े हैं। वे एक-दूसरे को दोष देते हैं, खीझते हैं, क्रोधित होते हैं, रोब डालते हैं और 'पोज' करते हैं 'माँ गुमसुम रहती है, पिता चिड़चिड़े। उमग गुम गई है। पिता से टीनू तक सब अज्ञातपरिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।' इस कहानी मे परिवार के परिपूर्ण बिम्ब के खडित हो जाने की प्रक्रिया उपस्थित है। पारिवारिक सस्था को कायम रखने वाले आत्मीय-सस्कारो के अवशेष किस प्रकार समाप्तप्राय हो रहे हैं, इसकी तीव्र सवेदना जगाती है यह कहानी। पिता कहानी भी इस सग्रह की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी मे पिता के परम्परागत 'टाइप' का बड़ा

मार्मिक चित्रण है। लेखक की दृष्टि स्थिति का पूरा-पूरा जायजा लेती है और दो पीढ़ियों के अन्तर को सही रूप में पकड़ने का यत्न करती है। इसमें परम्परा के प्रति या परम्परा के प्रतिनिधि 'पिता' के प्रति घृणा उडलने या रोमांटिक विद्रोह का विरोध प्रदर्शित करने का भाव नहीं है। यहाँ पिता ऐसे हैं जो जीवन की अनिवार्य सुविधाओं से वंचित हैं, झल्लाते हैं अपने को असम्पृक्त दिखाते हैं, सभी का निषेध करते हैं और निरकुश हैं। ऐसे पिता के प्रति आज के व्यक्ति की जो प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं, उनका बड़ा तटस्थ चित्रण मनुष्य से जुड़े रहने की सहज वाछा की सापेक्षता में इस कहानी में किया गया है। कहानी के 'वह' को महसूस होता है कि पिता एक भीमकाय दरवाजे की तरह खड़े हैं जिससे टकरा टकरा कर हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं। इसमें उसमें असन्तोष तो है पर यह असन्तोष सवत्र सहानुभूति के सूत्र से जुड़ा हुआ है। यहाँ टूटते हुए सम्बन्धों का चित्रण वास्तविक एवं सहज है और मानवीय करुणा उभारने वाला।

इस संग्रह में अन्य कहानियाँ भी हैं जो नगर संस्कृति में सम्बन्धों के टूटन की प्रक्रिया का मूल्य स्तर पर, सामाजिक सन्दर्भों में एहसास कराती हैं, यह बात और है कि ये कहानियाँ श्रेष्ठ होते हुए, और पिता कहानियों के उच्च स्तर को न छूती हों। प्रेम का मासूम सहज और रोमानी रूप जितना अटपटा और विसंगत लगता है—मीरा डैडी और मिसेज भट्टाचार्य के प्रौढ़ प्रेमालापों के व्यावहारिक और यथार्थ-सन्दर्भों में - यह रोचक ढंग से कथित है विश्वासघाती कहानी में। इस कहानी में एक कुंवारी लड़की की माता पिता के प्रति प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हैं। वह पिता के पत्नी से इतर यौन सम्बन्धों और पत्नी के प्रति उनके दुर्व्यवहार को जानती है। एक कुंवारी लड़की के मानसिक तनाव और उसकी द्वन्द्वपूर्ण मन स्थिति का चित्रण इस कहानी में किया गया है। फेंस के इधर और उधर कहानी में दो पीढ़ियों के अन्तर और अजनबीपन को बिना भावुक हुए व्यक्त कर दिया गया है। खलनायिका और बारूद के फूल कहानी में प्रेम की एक परस्पर विरोधी स्थिति का बड़ा सहज चित्रण है।

इस संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो पाठक को अप्रभावित छोड़ जाती हैं। उदाहरण के तौर पर आत्महत्या कहानी में आत्महत्या का कोरा कथन या विवरण ही है। सीमाएँ में अच्छे-खासे कहानीपन के सिवा कुछ नहीं है। दिलचस्पी कहानी में सिन्धोरिया की प्रेमासक्ति या दिलचस्पी का कौतूहलवर्धक चित्रण है। शेष तीन कहानियाँ बेहद सामान्य हैं—उनमें विकृतियों का चित्रण है या एक खास मन स्थिति में पड़े पात्रों की उधेड़बुन। ऐसी कहानियों से शहरी जीवन के तनावों की कोई पहचान नहीं हो पाती है।

राजेन्द्र यादव की कहानियों का रचना संसार निर्मल वर्मा और ज्ञानरंजन की कहानियों के रचना-संसार से भिन्न है। उनकी कहानियों की तर्ज भी भिन्न है और तेवर भी। एक प्रतिष्ठित कहानीकार होने के नाते उनकी रचना रूढ़ियाँ हैं जिनसे मुक्त होने की कोशिश वे नहीं करते या कोशिश के बावजूद मुक्त नहीं हो पाते।

अपने पार की अधिकांश कहानियाँ इस बात की सबूत हैं कि एक अच्छा-भला लेखक स्वनिर्मित रूढ़ियों से 'कन्डीशन्ड' होकर समय के जीवन्त सन्दर्भों से कैसे कट जाता है और सिमट करके रह जाता है अपनी ही रचनाशीलता के कछुवा-धर्म में। उनकी कहानियों में मध्यवर्ग की रूढ़ परिकल्पना है। मध्यवर्ग के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में, गहरे स्तरों पर जो परिवर्तन पिछले वर्षों में घटित हुए हैं, उन्हें या तो वे अनदेखा कर देते हैं या उनका चित्रण सतही ढंग से करते हैं—मध्यवर्ग की टाइपगत या रूढ़ अवधारणा के कारण। इन कहानियों को ज्ञानरंजन की कहानियों के समानान्तर रख कर देखें तो यह बात और भी उभर कर सामने आती है। ज्ञानरंजन की कहानियाँ जहाँ मध्यवर्गीय जिन्दगी के परिवर्तित और जटिल रूप का बोध तटस्थता और प्रामाणिकता से कराती हैं, वहाँ राजेन्द्र यादव की कहानियाँ मध्यवर्ग की ऐसी धारणा के गिर्द रची गई हैं, जो आज से १५-२० वर्ष पहले के परिवेश से उपजी थी। इस बीच मध्य-वर्ग का साधारण व्यक्ति कितना पिटा है, हताश और त्रस्त हुआ है, इसका बोध ये कहानियाँ नहीं कराती हैं। संग्रह की कुछ कहानियों के सन्दर्भ में इस बात को लक्षित किया जा सकता है। मेहमान कहानी का 'मैं' एक क्लर्क है जो अपने को निरीह और हीन महसूस करता है एक बड़े आदमी के सामने जो उसका मेहमान बना है। मेहमान के बड़प्पन से वह जैसे आतंकित है। उसे लगता है कि जो कुछ वह बोलेगा वह निहायत ही छिछला और व्यर्थ होगा। पर, कहानी से मेहमान का कोई बिम्ब नहीं उभरता है। मेहमान यहाँ अमूर्त रह गया है। मेहमान की मानसिक स्थिति और जटिल स्वरूप का यदि बिम्ब उपस्थित हो पाता तो कहानी के 'मैं' की हीनता को एक सन्दर्भ मिल जाता। कहानी की सरल और सपाट बुनावट भी एक क्लर्क और बड़े व्यक्ति के बीच के फासले को, संवेदनात्मक धरातल पर, उभरने नहीं देती। दायरा कहानी के मूल कथ्य की बाबत किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती— शहरी जीवन में सम्बन्धों का यही वृत्त रह गया है। पर, कहानी का रचना-विधान ऐसा है कि कहानी यथार्थ की ऊपरी पर्त को खरोंचती भर है। रिमाण्डर कहानी का कथ्य यह है कि सम्बन्धों में उन्मुक्तता लुप्त हो रही है और कृत्रिमता और औपचारिकता आ रही है। इस कथ्य का इकहरा रूप कहानी में अवश्य उभरा है पर आज के सन्दर्भों को देखते हुए इस प्रकार के कथ्य की जैसी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वैसी यहाँ नहीं है। चुनाव, प्रात्म साक्षात्कार और शहर की यह रात 'गढ़ी' हुई कहानियाँ हैं। इन कहानियों में सरलीकृत और सामान्यीकृत संवेदना अभिव्यक्त है जिसे यथार्थ और जटिल सन्दर्भों से जुड़ी हुई नहीं कहा जा सकता।

बदलते हुए सम्बन्धों की अभिव्यक्ति इन कहानियों में बिल्कुल न हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसे सम्बन्धों का चित्रण और विश्लेषण यादव ने मनोविज्ञान के सहारे करने की कोशिश की है। यों, पिछली पीढ़ी के कई प्रसिद्ध लेखकों ने यह काम खासी गम्भीरता से किया है। ऐसा चित्रण और विश्लेषण करते हुए कई बार सम्बन्धों और मनःस्थितियों पर मनोवैज्ञानिक सूत्रों और नुस्खों का हावी हो जाना नितान्त सम्भव

है। डेढ़ दृष्ट की कहानी 'अपने पार' ही लें। (पिता से वंचित) बच्चा माँ के साथ लेटा है, वह उसे चूमता है, उससे लिपटता है, उसकी छातियों पर लदकर, उसके पल्ले से आँखें पोंछता है। उसे लगता है कि वह पापा है और माँ भी ध्यान से देखकर कुछ याद करने की कोशिश करती है। यही 'अपने पार' देखना है। स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के एक निष्कर्ष को लेकर कहानी 'बनायी' गई है और उसे सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का कौशल दिखाया गया है। अनुपस्थित सम्बोधन मे एक जवान लड़की है—सीमा जिसमे यह मानसिक ग्रन्थि बद्धमूल हो चुकी है कि वह माँ जैसी है, माँ का ही प्रतिरूप है। इस ग्रन्थि से वह पीड़ित है और उसका व्यक्तित्व इससे ग्रसित है। यही उसके दिमाग मे ठुकी कील है जिसे उसके प्रेमी बिन्दी ने देख लिया है। माँ और तेज चक्ल के सम्बन्ध इस ग्रन्थि की जकड़न को और मजबूत कर जाते है। इसमे सन्देह नही कि लेखक ने सीमा की ग्रन्थिबद्ध मन स्थिति का चित्रण अत्यन्त प्रभावशाली ढग से किया है। पर, यदि सीमा के मन मे मानसिक ग्रन्थि से मुक्त होने की सहज आकांक्षा भी उभरती हुई दिखायी जाती तो उसका जटिल रूप सहज प्रतीत होता। भविष्य के पास मडराता अतीत सग्रह की एक सशक्त और सफल कहानी है। पति-पत्नी के सम्बन्धो मे तनाव आ जाने से विच्छेद जरूरी हो गया। विच्छेद के अनन्तर पति की दारुण मानसिक अवस्था का आकलन इस कहानी मे है। दाम्पत्य प्रेम की अर्थहीनता तो उसने समझ ली, पर बच्चो के लिए अपार स्नेह से उद्वेलित अपने हृदय को कैसे समझाये ? टूटते हुए सम्बन्धो और भ्रष्ट होते हुए मूल्यो के सन्दर्भ मे वात्सल्य भाव की यह 'करुणा' यथार्थ और मार्मिक है और लेखक ने इस 'करुणा' को बड़े सयम से अभिव्यक्त किया है।

समकालीन
रचना-संदर्भ

आज का उपन्यास : जटिल मनःस्थिति से भयावह मानव-स्थिति तक

इधर के कुछेक उपन्यास मेरे सामने हैं। इन्हें पढ़ने से लगता है कि ये नई चुनौतियों के आमने-सामने हैं और इस से उपन्यास की परम्परागत धारणा में परिवर्तन आ रहा है। घटनाओं, प्रसंगों और चरित्रों वाला पुराना चौखटा टूट रहा है और राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों के ब्यौरे अब उपन्यास के लिए महत्वहीन बनने जा रहे हैं। इन उपन्यासों के अन्दर की हलचल से इसकी पुरानी भाषा-शिल्प-सरचना अप्रासंगिक हो गयी लगती है। ये उपन्यास एक भिन्न धरातल पर और एक भिन्न दिशा में प्रयोग की सूचना दे रहे हैं।

ये उपन्यास बाह्य स्थितियों की अपेक्षा अन्त:स्थितियों या मन:स्थितियों या मानव-स्थितियों को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। इनमें बाह्य और आन्तरिक स्थितियों में एक सर्जनात्मक रिश्ता बैठाने की कोशिश की गई है। ममता कालिया का बेघर, कृष्णा सोबती का सूरजमुखी अन्धेरे के, गिरिराज किशोर का यात्राएँ, मुक्तिबोध का विपात्र और बदीउज्जमाँ का एक चूहे की मौत उपन्यासों में इस कोशिश को देखा जा सकता है। ये उपन्यास एक ओर जटिल या उलझी हुई मन:स्थितियों या मनोग्रन्थियों के शिकंजे में जकड़े हुए व्यक्तियों की जीवन-स्थितियों या मनोदशाओं से सम्बद्ध हैं तो दूसरी ओर मानव-स्थितियों की क्रूर और निर्मम सच्चाई भी इन उपन्यासों में अभिव्यक्त है। पहले कुछ ऐसे उपन्यास लें जिनके मुख्य पात्र एक संस्कारबद्ध या बद्धमूल मानसिकता से पीड़ित हैं। इस मानसिकता की प्रकृति इन उपन्यासों में भिन्न-भिन्न है। इसके रूप और स्तर भी अलग-अलग हैं। यह

मानसिकता बेघर में एक नैतिक-पारिवारिक किस्म की है, सूरजमुखी अंधेरे के में एक यौन प्रश्न के रूप में है और यात्राएं में यह मानसिकता यौन आचरण की एक विशेष स्थिति से निर्मित है।

बेघर उपन्यास परमजीत के कोण से या उसके माध्यम से कहा गया है और वही इसका केन्द्रीय चरित्र भी है। दिल्ली से बम्बई में आकर वह पाता है कि वह नितान्त अकेला है। यह अकेलापन उसे संजीविनी के इर्द-गिर्द भी दीखता है। संजीविनी का अकेलापन कहीं उसके अपने अकेलेपन से टकराता है और उसके साथ प्रेम-बन्धन में बंधकर उसे महसूस होता है कि वह अकेला नहीं, बम्बई बड़ी और अजनबी नहीं है। शहर अब उसका व्यक्तिगत मित्र हो गया था। बम्बई की विशाल व्यस्तता में संजीविनी उसे अपनी ही तरह एक उदास विसंगति के समान लगी थी। पर, परमजीत की कुआरेपन की धारणा उसकी जीवन-दिशा को बदलकर रख देती है। जब वह संजीविनी को अपनी धारणा पर खरा उतरता नहीं पाता तो वह उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। संजीविनी के साथ सम्पर्क होने के बाद जिस अकेलापन से उसे निजात मिली थी, वह अकेलापन दुगुने रूप में उसके पूरे अस्तित्व को निगलने लगता है 'इतनी भीड़ के बावजूद परमजीत ने अपने आपको भयानक रूप में अकेला पाया। उसे अब अकेलेपन से तकलीफ होने लगी थी। वह परिचित-दोस्तों की भीड़ में बैठे-बैठे अकेला हो जाता।' पर संस्कारबद्धता के कारण वह संजीविनी से समझौता नहीं कर पाता। इसी संस्कार के कारण वह रमा से विवाह कर लेता है और अपनी समस्त निजता गवा बैठता है 'रमा के साथ विवाह होने के बाद परमजीत को लगा कि वह किसी कसाई के हाथों में पड़ गया है और मिमियाने के अलावा कुछ नहीं कर सकता।' एक अच्छा औसत पति और एक अच्छा औसत बाप तो वह बन गया, पर अपनी पहचान ही उसके लिए मुश्किल हो गयी।

यह संस्कारबद्ध व्यक्ति के तनाव और यातना की स्थिति है और यही इस उपन्यास की महत्वपूर्ण केन्द्रीय स्थिति भी है। यह स्थिति तब खुलना शुरू होती है जब परमजीत संजीविनी से संभोग के बाद पाता है कि वह पहला नहीं है . 'वे लोग छूटकर अलग हुए तो संजीविनी जल्द-जल्द कपड़े पहनने लगी। पर परमजीत बैठा रह गया, परास्त, आस-पास घूरता हुआ-सा। उसके पाँवों तले फर्श ठण्डा और सख्त था और ऊपर पंखे की गर्म हवा उसका दम घोंट रही थी।' उसने कहा, 'तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ?' परमजीत ने लड़कियों के कुआरेपन की पहचान चीख-पुकार और खून में सम्बद्ध की थी। जब वह ऐसा कुछ नहीं कर पाता तो उसे बेतरह तकलीफ होती है। पहला न होने की निराशा के सन्नाटे के साथ उसे अपनी जिन्दगी का नक्शा मुड़ा हुआ दिखाई दे रहा था। 'वह दुर्घटनाग्रस्त आदमी की तरह सन्न बैठा रहा। संजीविनी को देख-देखकर वह चकित हो रहा था। वही लड़की थी। बिल्कुल वही। पर कितनी अलग लग रही थी। इतनी थोड़ी दूर बैठे हुए भी वह मीलों दूर

जा पड़ी थी।' उसे गुस्सा नहीं आ रहा था, खीझ भी नहीं, पर वह हार गया था। हार का यह एहसास उसकी एक मानसिक ग्रन्थि की उपज है जो उसके नैतिक-पारिवारिक संस्कारों से बनी है। इस ग्रन्थि के शिकंजे में जकड़ा हुआ वह एक ओर तो सजीविनी से अपने को पूरी तरह काट लेता है और दूसरी ओर रमा से विवाह करके पहला होने के गर्व की पूर्ति करता है। पर इसके लिए उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। उसे अपने विरुद्ध जाना पड़ता है और अपनी नजरों में अपनी पहचान खोने की यन्त्रणा को भोगना पड़ता है। परमजीत की संस्कारबद्ध मन स्थिति इसीलिये घोर वैयक्तिक स्तरों पर निर्मित कोई 'फिक्सेशन' नहीं है। यह संस्कारबद्धता नैतिक-पारिवारिक स्तर की है जो उसकी अस्तित्वगत चेतना से टकराती है। यह टकराहट गहरे और जटिल स्तरों पर नहीं, निहायत सामान्य स्तरों पर अभिव्यक्त है। परमजीत की हार्ट फेल से मृत्यु को इतनी सी या इस स्तर की टकराहट के बल पर विश्वसनीय नहीं बनाया जा सका है। इसके लिये यह टकराहट अन्तरात्मा के गहरे या बुनियादी स्तरों पर संक्रमित होनी चाहिये थी। परमजीत की टकराहट को बाह्य परिवेश की सामान्य स्थितियों में उलझाकर अस्तित्व की उन खोखली हुई, बेलौस स्थितियों को उजागर नहीं किया जा सका है जिससे उसकी मृत्यु जीवन की पूरी संगति में उभरती।

उपन्यास का कथ्य जहाँ एक संस्कारबद्ध या तनावपूर्ण मन स्थिति हो वहाँ घटनाबहुलता या प्रसंगों की प्रचुरता के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। केवल वही घटनाएं और प्रसंग आवश्यक होते हैं जो उस मन स्थिति के साथ एक अनिवार्य संगति लिए हुए हों। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं और स्थितियों को एक आन्तरिक तर्क-संगति में नियोजित करते समय उनके रूढ क्रम को तोड़ना जरूरी हो जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि एक बद्धमूल मन स्थिति को उपन्यास के कलेवर में बाँधते हुए भी ममता कालिया पुरानी वर्णन-प्रणाली और औपन्यासिक संरचना के पिट पिटाये ढर्रे से क्यों चिपकी रहीं? उस मन स्थिति के समानान्तर भाषा का अत्यन्त सहज प्रयोग करने के बावजूद लेखिका सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के योग्य शिल्प की तलाश क्यों नहीं कर सकीं? सारी कथा सीधे और सिलसिलेवार ढंग से कही गई है। बम्बई जाने से पूर्व दिल्ली में परमजीत की मनोदशा या उसके घरवालों का जैसा वर्णन इस उपन्यास में है वह अत्यन्त साधारण है और परमजीत की बाद की रुचियों और मनोदशाओं के लिए कोई उपयुक्त भूमिका नहीं बनता। इसी तरह रमा की बहन का पूरा प्रसंग भी फालतू विवरणों से भरा हुआ है। बड़े उपन्यास में तो ब्यौरे खप भी सकते हैं, पर लघु उपन्यास का रचाव और सर्जनात्मक परिकल्पना इस तरह के ब्यौरों के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ती। कई बार होता यह है कि कथ्य इकहरा या कहानी में समा जाने योग्य होता है, पर लेखक उसे अनेक प्रसंगों और ब्यौरों द्वारा खींचकर कथा को विस्तार देता है। इस उपन्यास में भी ऐसा ही हुआ है जिससे संवेदना और औपन्यासिक-तन्त्र में एक द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा हो गयी है। लगता है, यह ममता कालिया के उपन्यासकार का नहीं, कहानीकार का उपन्यास है। कहानी की संवेदना को उपन्यास के रूप में

फैलाने के कारण ही लेखिका को एक घटना-बहुल बाह्य परिवेश को प्रश्रय देना पड़ा है, नहीं तो उपन्यास का कथ्य अधिक आन्तरिक सरचना की माँग करता था, यानी इस तरह के कथ्य को, स्थितियों और चरित्रों को, आन्तरिकता की ओर उन्मुख करके सृजित करने की जरूरत थी।

कृष्णा सोबती के उपन्यास सूरजमुखी अँधेरे के में भी एक बद्धमूल मानसिक ग्रन्थि है। रत्ती एक जटिल मनोग्रन्थि की गिरफ्त में है। वह तीव्र इच्छा से भर उठती है और हताश हो अपने में ही लौट आती है, अपने से टकराती है, संघर्षरत होती है, लड़ाई लड़ती है, वही बाहर नहीं – बाहरी शक्ति से नहीं—अपने से ही — गहरे में कहीं भीतर —अपनी ही मानसिक ग्रंथि से जिस के कारण वह सिर्फ एक चिथड़ा है जिस से वह एक बार भी समूची प्राप्त नहीं बन पाती 'हर बार कहीं पहुँच सकने की न मरने वाली चाह और हर बार वीरान वापसी अपनी ओर।' केशी उस से कहता भी है 'हमेशा अपने से अपने अन्दर लड़ते रहने का कोई फायदा नहीं लड़ाई को अपने से बाहर रख कर लड़ना हमेशा अच्छा है।' पर रत्ती भीतर की लड़ाई को बाहर नहीं मोड़ पाती। बाहर मोड़ने की उसकी हर कोशिश एक भ्रम-जाल बनकर रह जाती है 'जिस सड़क का कोई किनारा नहीं रत्ती वही है। वह आप ही अपनी सड़क का 'डैड एन्ड' है, आखिरी छोर है। उसके लिए भविष्य का अर्थ मिट चुका है।

निस्सदेह, यह मानसिक बद्धमूलता की एक जबरदस्त स्थिति है। बचपन में बलात्कार किए जाने के बाद वह देह से उत्तेजनाहीन, ठंडी या 'फ्रिजेड' हो गयी। उसका व्यवहार और आचरण अप्रामाण्य हो गया। मानसिक स्तर पर यौन-सबधों के लिए सक्रिय रहते हुए भी वह शारीरिक स्तर पर काठ हो गयी। उस के सम्पर्क में आने वाले पुरुष रोहित, बाली, राजन, श्रीपत उसके व्यवहार से निराश और हताश हो जाते हैं। रोहित और बाली को वह ठंडी और मनहूस औरत लगती है और राजन उस से कहता है, 'मुझे हमेशा शक था कि तुम औरत हो भी कि नहीं।' और श्रीपत कहता है, 'तुम उस हुए अँधेरे की वह पर्त हो जो कभी उजागर नहीं होगी। पर यह अँधेरे की पर्त दिवाकर के साथ संभोग में प्रवृत्त होकर उजागर हो उठती है। वह रोमांचित, पुलकित और बावली हो जाती है। उन की तीव्र क्षणों की यह घोर रोमानियत की प्रवृत्ति उस की मन स्थिति को देखते हुए, अटपटी और विचित्र लगती है। संभोग के बाद की उसकी प्रतिक्रिया भी लिजलिजेपन की हद तक भावुकतापूर्ण है।

इस उपन्यास की अन्तिम परिणति भी बड़ी असगत प्रतीत होती है। रत्ती *दिवाकर का सहारा लेकर दिवाकर के साथ रहने से इन्कार कर देती है,* वह आधार अपुष्ट थोड़ा और थोथा है और उपन्यास में रत्ती की मन स्थिति की जटिलता की सगति में नहीं है। एक जटिल और उलझावपूर्ण मन स्थिति की इस

ढग को सरल सपाट-नैतिक अभिव्यक्ति ने तथा अन्त की अनावश्यक सो मुद्रा ने, एक अच्छे भले उपन्यास को चौपट करके रख दिया है।

गिरिराज किशोर के उपन्यास यात्राएं में एक भिन्न किस्म की मन स्थिति है। यह स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी के यौन संबधो की एक अलग ढग की मन स्थिति है। विवाह के बाद की पहली रात है और वन्या प्रस्तुत नहीं हो पाती। पत्नी का यह कहना, 'क्या हम एक-दो रोज रुक नहीं सकते', पति के उत्साह को ठडा कर देता है। वन्या की स्थिति बडी विचित्र है। वह सबेरे ताजा, जीवित और खुली हुई सी लगती थी। दिन के उतार के साथ उसका उतार भी शुरू हो जाता था और रात होते होते वह समाप्त हो जाती थी। वन्या के बार-बार उसे टालने से, शारीरिक स्तर पर ठडा और उत्तेजनाहीन बने रहने से उपन्यास का 'मैं' मानसिक और अस्थायी रूप से निरन्तर पुंसत्वहीन होता जाता है। वन्या की संबंध के प्रति विरक्ति 'मैं' की उत्तेजना को खत्म कर देती है। वह पर्व होते होते ठडा होता जाता है। वन्या के साथ सोते हुए, उस के शरीर से सटा हुआ रहते हुए भी, वह शिथिल पडा रहता है। महत्त्व की बात यह है कि यहाँ इस स्थिति का कोरा विवरण या चित्रण नहीं है, उसे यहाँ अनुभव के स्तर पर, अनुभव की यातना के रूप मे उजागर करने का प्रयास किया गया है, जहाँ देह की प्रासंगिकता और सार्थकता नहीं रह जाती 'मुझे लग रहा था—मेरे शरीर की सब हड्डियाँ घुल गयी है। सिर्फ देह है। मैं इस देह का क्या करूँगा'······ 'हम दोनो की देह एक दूसरे के लिए अनुपयोगी हो गयी थी। उस की देह तो फिर भी थी, लेकिन मैं अपनी देह खो चुका था।'

दोनो के इस ढग के यौन व्यवहार के लिए जिम्मेदार कोई न कोई मानसिक वृत्ति है जिसे स्पष्ट रूप मे सुझाने या खालने की अपेक्षा लेखक उस पर रहस्य का आवरण डाल देता है 'मैं और वन्या एक ऐसी मानसिकता से गुजर रहे थे जहाँ हम दोनो को एक दूसरे की निकटता का अहसास तो था पर एक 'लेकिन' हम लोगो को टोक देता था'। इस 'लेकिन' का कोई मानसिक या अन्य सन्दर्भ उपन्यास मे नहीं है। हाँ, एक महत्त्वपूर्ण सूत्र अवश्य है। 'मैं' की पुंसत्वहीनता का अहसास और इससे जुडी यातना केवल वन्या की सापेक्षता मे है। नीति के साथ यौन-व्यवहार में उसे कोई दिक्कत नहीं 'मेरे सामने मात्र नीति थी। स्तम्भ की तरह। फिसलते-फिसलते मैं उसको पकड लेता था। मैं जानता था उसके साथ मेरी वास्तविकता भिन्न है। वन्या की वास्तविकता को मैं नीति की वास्तविकता से स्थानान्तरित नहीं कर सकता था।' 'मैं' की अस्थायी पुंसत्वहीनता का यह एक महत्त्व-पूर्ण सूत्र है जिसे पकडकर उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना तक पहुंचा जा सकता है।

इस उपन्यास मे, निश्चय ही, एक नए और चुनौतिपूर्ण अनुभव-क्षेत्र को उठाया गया है। यह लेखक की सफलता है कि उसने इस स्थिति को स्थूल और बडबोला नहीं बनने दिया है।

दूसरी किस्म के उपन्यास वे हैं जिनमे म ज की मानवीय स्थिति का सीधे-सीधे साक्षात्कार किया गया है। मुक्तिबोध का विपात्र और बदीउज्जमा का एक चूहे की मौत ऐसे ही उपन्यास हैं। विपात्र मे व्यवस्था-तन्त्र मे जकड़े हुए व्यक्तियो की, विशेष रूप से, बुद्धिजीवियो की दोहरी मानसिक स्थिति या दोगलेपन तथा दुर्दशाग्रस्त स्थिति का बोध कराने का प्रयास किया गया है। विपात्र मे व्यवस्था का प्रतीक है बॉस और उसका दरबार। बॉस इसलिए उपकार करता है कि लोग उसकी कठपुतली बनें और शैतानी ढाँचे में फिट हो सकें। व्यवस्था का अग बने रहने की लाचारी इस उपन्यास में भी वैसी ही है जैसी एक चूहे की मौत में। आदमी तैयार रहते है कि आओ हमें खरीदो। आत्मा की स्वतन्त्रता बेचने वालो की सख्या असीम है। उतनी ही बड़ी सख्या है आत्मा को रेहन रखने वालो की। बुद्धिजीवियो की स्थिति इस कदर निरीह है कि वे व्यवस्था से चिपके रहने के लिए बाध्य है। अलग-अलग लोग अलग-अलग ढग से पूँछ हिलाते है। वे व्यवस्था को न चुनौती दे पाते हैं, न उसके प्रति विरोध व्यक्त कर पाते हैं। उनमें रह जाता है केवल नपुसक क्रोध जिसका अनुभव हर उस आदमी को होना है जिसने अपने जीवन की रक्षा के लिए अपनी स्वतन्त्रता बेच खायी हो। उनकी आत्मा ऐसी जननेन्द्रिय के समान है जिसको निभाना होती है और बुद्धिजीवियो की कोई भूमिका नही रह गयी 'एबीलार्ड! शिखण्डी सन्त! जिसने अपनी जननेन्द्रिय को चाकू से काट दिया था। सन्त बने रहने के लिए'।

लेखक ने बुद्धिजीवी के नैतिक सकट की इस स्थिति को सामाजिक सन्दर्भ में उठाया है। व्यवस्था-तन्त्र के तिलस्म को तोड़ने के लिए उसने 'सृजन शक्ति का और तज रगत और 'सामाजिक भेदो की दलदल को सुखाने' का सकल्प व्यक्त किया है। *स्थिति म प्रति लखक की इस दृष्टि के पीछे यह विचार है कि 'मुक्ति अकेले* में अकेले की नहीं हो सकती। मुक्ति अकेले में, अकेले को नही मिलती।' लेखक के इस सकल्प और विचार से कोई एतराज नहीं। पर, यह सकल्प और विचार औपन्यासिक सर्जनात्मकता का हिस्सा नही बन सका है तथा जीवन-व्यवहारो में चरितार्थ नहीं हो सका है। मानव-अस्तित्व को अर्थ देने की लेखनीय चोष्टा, इस चरितार्थता के अभाव में कोई प्रभाव नही छोडती। उपन्यास की सर्जनात्मकता, विचारो, धारणाओ, कथनो और विश्लेषणो के बोझ तले, जगह-जगह खण्डित हो गयी है।

बदीउज्जमा के उपन्यास एक चूहे की मौत में भी व्यवस्था-तन्त्र की भयावहता और उससे जुडी मनुष्य की क्रूर नियति का प्रश्न उठाया गया है और उसे गहरे सवेदनात्मक स्तरो पर उजागर किया गया है। इसमें सम्पूर्ण व्यवस्था-तन्त्र *एक मायावी दैत्य की तरह व्यवहार* करता है और सभी को अपने जबड़ो में दबोचे हुए है। तन्त्र से जुड़े हुए, उसमें शामिल और उससे विद्रोह करने वाले आदमी की जटिल और विसगतिपूर्ण स्थिति के सैकडो पहलू पहली बार, औपन्यासिक

फलक पर जीवन-व्यापारों की संगति में उभरे हैं और फन्तेसी शिल्प के सर्जनात्मक प्रयोग ने इस उपन्यास को व्यापक संदर्भों और अभिप्रायों से संयुक्त कर दिया है।

इस उपन्यास में प्रतीकान्वेषण की प्रक्रिया इसकी रचनात्मकता में गुथी हुई है और आज के परिवेश की विसंगति और तल्खी को उभारने वाली है। उपन्यास में 'चूहे चूहेमार' के प्रतीकों को घुटनभरे दफ्तरी वातावरण के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए भी व्यापक अर्थ संदर्भों में संक्रान्त किया गया है। चूहे मारना केवल फाइलों का निपटारा नहीं है। यह एक व्यवस्थाकामी मनोवृत्ति है चूहेमार सिर्फ वही नहीं होता जो सिर्फ चूहेखाने में चूहे मारता है। वह तस्वीर नहीं बनाता चूहे मारता है। यह एक व्यावसायिक मनोवृत्ति है जिसे इस उपन्यास में निर्ममतापूर्वक बेनकाब किया गया है।

एक चूहे की मौत में आज के आदमी की निरीह स्थिति का दफ्तरी माहौल और घुटन की दहशत के संदर्भों में शासन-तन्त्र और व्यवस्था-तन्त्र के व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करता चला उपन्यास है। व्यवस्था-तन्त्र एक लम्बी सुरंग है जो दिन भर अनगिनत चूहे (फाइल) सामने उगलती रहती है और उपन्यास का वह—छोटा चूहेमार—चूहे मारने की नियति का भोक्ता है क्योंकि चूहेखाने से निकलकर कोई भी चैन से नहीं रह सकता और चूहे मारो या भला मरो के सिवा अन्य कोई विकल्प उसके सामने नहीं है। व्यवस्था इतनी चालाक है कि वह हर चूहा में जितना अधिक रुचि लेता है उतना ही वह उसके शिकंजे में कसने लगता है। इस तन्त्र का खौफ और दहशत इतना है कि चूहा की लाख अवहेलना की जाए चाहे जितना उपहास किया जाए वह आपका साथ नहीं छोड़ेगा। चूहेखाने की शक्तियाँ दानवों और राक्षसों सी हैं जो आदमी के सत्व को निचोड़ डालती हैं। मनुष्य की आत्मा मुक्ति के लिए छटपटाती है पर ऐयार तन्त्र के सामने मनुष्य से चूहे के रूप में उसका देहान्तरण हो जाता है। वह चूहा बनकर घिसटता और रिरियाता है। वह सोचता विचारता मनुष्य के समान है। वास्तव में वह न चूहा है न आदमी। उसकी स्थिति काकभुशुण्डी जैसी है। लेखक ने पुराण तथा पंचतन्त्र की कहानियों के प्रसंगों को कथा रचना में गूँथकर तन्त्र की क्रूरता और भयावहता के संदर्भ में मनुष्य की इस अमानवीय होती जा रही मानव स्थिति के यथार्थ का बोध कराया है।

इन उपन्यासों में जटिल तथा बद्धमूल मानसिकता और भयावह मानव स्थिति के विविध स्तर उद्घाटित हुए हैं। यह बात और है कि सभी उपन्यासों में ये स्तर एक से सर्जनात्मक न हों या कि इनके रास्ते में कलागत या नैतिक अवधारणाएँ आड़ आ गई हों।

नयी औपन्यासिक सर्जनात्मकता और अस्तित्व के चालू मुहावरे

विगत कुछ वर्षों में ऐसी औपन्यासिक कृतियाँ प्रकाश में आई हैं जो उपन्यास के परम्परागत ढाँचे को तोड़ने का उपक्रम करती हैं। यह 'तोड़ना' कहीं रचनागत दबावों के कारण है तो कहीं महज़ एक शैली और अन्दाज़ का सूचक है। उपन्यासकार का ध्यान जहाँ केवल शिल्पगत प्रयोगों तक रहता है वहाँ वह उपन्यास में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं ला पाता। पर, यदि प्रयोग रचना के परिणामस्वरूप हुए हैं तो वे औपन्यासिक विधान में रद्दोबदल के संकेत देते हैं। आज उपन्यास बदल रहा है और उसके आग्रह 'शिफ्ट' कर रहे हैं। अब उपन्यास नायक की धारणा को छोड़ चुका है और केन्द्रीय चरित्र और सिलसिलेवार कथा का मोह भी त्याग चुका है। आज उपन्यास में बाहरी परिवेश भीतरी सन्दर्भ ले रहा है यानी भीतर घटित और रूपान्तरित हो रहा है। इसी में कथा बेतरतीब से टुकड़ों में रहती है या एक मुख्य मनःस्थिति में जुड़े हुए अनेक प्रसंग रहते हैं। ज़ाहिर है कि कथा के रचाव की यह दृष्टि चरित्र की 'मिथ' का तोड़ रही है। इसमें उपन्यास नए रूप में परिकल्पित हो रहा है। सवाल यह है कि यह परिकल्पना उपन्यास की रचनाशीलता से तालमेल बनाए हुए है या नहीं? उपन्यास, चूँकि, एक कृति है, हमारा सरोकार इतना ही है कि यह सब उपन्यास में रचनात्मक धरातल और मुहावरा पा सका है या नहीं?

मेरे सामने दो लघु उपन्यास हैं—रमेश बक्षी का चलता हुआ लावा और प्रमोद सिनहा का उसका शहर। इन दोनों उपन्यासों में कथागत उलझाव नहीं है। इनमें

कथा की बुनाई आड़े-तिरछे सूत्रों से नहीं की गयी है। इनमें मूल संवेदना का भी इकहरापन है। चलता हुआ लावा में नयी कथा-टेक्नीक के बल पर और उसका शहर में कथा को असम्बद्ध टुकड़ों में प्रस्तुत करके उपन्यास की परम्परागत धारणा को खंडित करने का प्रयास किया गया है। पर, रमेश बक्षी का कथा-शिल्प-प्रयोग कथा को भिन्न ढंग से कहने की लेखक को सुविधा भर दे पाया है, उसमें उपन्यास की रचाव-दृष्टि में कहीं कोई फर्क नहीं पड़ा। सारे प्रसंग और स्थितियाँ एक मन-स्थिति के गिर्द एक चरित्र को उभारते हैं और कहानी-गठन में सहायक बनते हैं जबकि ये प्रसंग और स्थितियाँ भिन्न प्रकार के रचनात्मक संयोजन की अपेक्षा रखती थीं। दूसरी ओर प्रमोद सिन्हा के उपन्यास में कोई एक कथा नहीं है, छोटे-छोटे अनेक कथा-प्रसंग हैं— एक दूसरे से असम्बद्ध पर एक मन स्थिति से जुड़े हुए, किन्तु यहाँ दिक्कत यह है कि धारणा रचना पर हावी हो गयी है।

चलता हुआ लावा में महत्त्व है एक मनोदशा या मन स्थिति का जो पूरे उपन्यास की धुरी है। इस उपन्यास के 'मैं' की मन स्थिति आत्मघात के लिए पहले से बन चुकी है। उसके लिए मरना किसी कारण से नहीं होता, वह तो एक निश्चय के रूप में मन में पक्का हो जाता है। उसके लिए आत्मघात या मृत्यु एक बद्धमूल मानसिक ग्रंथि है। उपन्यास के 'मैं' को दबोचे हुए है एक भयावह बिम्ब— अंधा, अंधेरा, सीलनभरा तलघर—और उससे राहत पाने के लिए वह छटपटाता है। उपन्यास के शुरू से आखिर तक इस भयावह बिम्ब का एहसास पाठक के मन में बना रहता है। इस मन स्थिति के लिए क्या कहा जाए ? क्या इसे मृत्यु का स्वीकार या वरण या मृत्यु-दंश झेलन के बाद का मृत्यु-बोध माना जाए ? मुझे लगता है कि इस उपन्यास में न तो मृत्यु का स्वीकार है और न ही उसका बोध। इसमें वह प्रक्रिया ही अनुपस्थित है जिसमें से गुजर कर मृत्यु-बोध की प्रामाणिक संवेदना जगती है। टूटन वाली स्थितियों से गुजरते हुए भी उपन्यास के 'मैं' के मन में मौत-वौत कुछ नहीं आती यानी उसकी मन स्थिति-स्थिति सापेक्ष नहीं है, बद्धमूल मानसिक ग्रन्थि की उपज है। लगता है आत्मघात और मृत्यु की जो व्याख्याएँ और विवरण इस उपन्यास में आए है, वे धारणात्मक और 'एकेडेमिक' हैं और रचनात्मक रूप में सक्रान्त नहीं हो पाए हैं।

दरअसल, यह उपन्यास जीवन और मृत्यु के बीच व्याप्त त्रास और उससे मुक्त होने की कहानी कहता है। इसमें मूल प्रश्न है आज के आदमी के अस्तित्व का—जीवन में लौटने, उसे स्वीकारने और उससे सपृक्त होने का। इसके पीछे संकल्प-स्वातन्त्र्य और जिजीविषा का भाव है। सारे संबंध-सूत्रों के टूट जाने के बाद भी उपन्यास का 'मैं' जीना चाहता है और इसलिए वह मौत से जूझता है और उसकी गिरफ्त से छूटने की कोशिश करता है। टेकनीकल अर्थ में जिन्दा होते हुए भी उपन्यास का 'मैं' मृतवत् पड़ा है। उस का 'ब्रेन' फेल हो चुका है पर धड़कने

चल रही है। नए मेडिकल सिद्धांत के अनुसार उसे मृत घोषित कर दिया गया है। उसे अर्थी पर डालकर श्मशान घाट ले जाया गया है। एक अतीत उसके साथ लिपटा है जिसकी उसे चेतना है। उसके सामने कई पिछले संदर्भ कौंध जाते हैं—पिता का, पत्नी का, प्रेमिका का, और उसे याद आती हैं आत्मघात की मन-स्थितियाँ। *वह मृत्यु के रूबरू है, मृत्यु का भयावह आतंक और त्रास झेलता है।* पर वह हताश और पराजित नहीं है। मृत्यु के विरुद्ध वह लगातार संघर्ष करता है। अर्थी की एक-एक रस्सी की जकड़न से अपने को मुक्त करता है और जीवन में लौटता है—किसी आरोपित सत्यवत्ता से परे हट कर जीने के लिए। जिन्दगी को बिल्कुल नए सिरे से शुरू करते हुए वह स्वयं को अनिश्चित सा, 'वैकुअम' की-सी स्थिति में पाता है जहाँ वह कहीं भी जुड़ा हुआ महसूस नहीं करता। यह परिणति स्थिति-सापेक्ष नहीं है, क्योंकि इस तक पहुँचा गया है बड़मूल मानसिक ग्रंथि के जरिए। यह ग्रंथि उपन्यास की मूल संवेदना को कोई संदर्भ नहीं पाने देती। पिता, पत्नी और प्रेमिका के प्रति एक खास किस्म की घृणा उड़ेलने वाली जो प्रतिक्रियाएँ उपन्यास में आई हैं (जो बक्शी के उपन्यासों की 'स्पिसेशन' बन चुकी हैं), उससे उपन्यास मानसिक कुनकुनाहट और भावुकता से आगे नहीं बढ़ पाता है।

प्रमोद सिनहा के उपन्यास 'अपना शहर' में न कोई कथा है, न कोई चरित्र और न ही कोई नायक। इस उपन्यास में कथा और चरित्र की परम्परागत मान्यताओं से अलग हटकर कुछ प्रसंगों के सहारे मन स्थितियों को सामने लाया गया है। प्रसंगों में न कोई तारतम्य है न सम्बन्ध पर मन स्थितियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं—सम्बन्धों के *विघटन का एक महीन सूत्र उन्हें बाँधे हुए है। आज के आदमी के लिए सम्बन्धों की* सार्थकता का कोई अर्थ नहीं रह गया है। सम्बन्ध उसके लिए प्राथमिक निष्ठा नहीं है। वह उसके लिए एक सुविधा है या अस्थायी भाव या भीतर से कहीं भी जुड़े न रहने के बावजूद परस्पर जुड़े रहने की लाचारी। आमूल और लूपिका के सम्बन्ध में केवल सुविधा है—*आमूल को लूपिका से मानसिक रति मिलती है।* मित्र और पत्नी के सम्बन्धों में परस्पर साथ बने रहते हुए भी बेगानेपन का भाव है—दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह जीते हैं। लूपिका और दशानन अपनी भिन्न रुचियों के कारण एक-दूसरे से जुड़ नहीं पाते—दाम्पत्य-सम्बन्ध समर्पित व्यक्तित्व चाहता है और लूपिका अपनी निजता खोना नहीं चाहती।

निस्सन्देह, यह सम्बन्धों का केवल ऊपरी द्वन्द्व नहीं, यह सम्बन्धों में भोर रहे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति है जिसमें बीतते जाने की संवेदना उसे सताती और कचोटती है। लूपिका सोचती है—यह बीतना अपने क्रम में कितना भयानक है, कहीं भी कुछ भी वापिस नहीं आता। बीतते जाने का एहसास उस आत्महत्या की तरह है जिसमें आदमी यह अच्छी तरह जानता है कि यदि उसने ऐसा कुछ भी किया तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा और यह खतरा अन्य खतरों

की तरह टाला नहीं जा सकता बल्कि इससे उसके अस्तित्व के ही टल जाने की गुंजाइश रहेगी।' यथास्थिति का यह कथन सही है, पर यह कथन उपन्यास की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया में व्याप्त नहीं है। इसी तरह लेखक ने भीतर के खालीपन का कई जगह कथन किया है, पर वह उसकी भयावहता का कोई बिम्ब नहीं उभार पाया है। सभी एक दूसरे से ऊबे हुए हैं और पाते हैं कि सभी कुछ निरर्थक है। पर, ऊब और निरर्थकता की कोई रचनात्मक अनुभूति उपन्यास नहीं दे पाता। इसका कारण है लेखक का अस्तित्व और नियति की चालू धारणाओं में उलझ जाना। उपन्यास के शुरू में ही अामूल की मनःस्थिति अस्तित्ववादी ढंग से गढ़ी गई है—'बेकार ही बिना संदर्भ के उसे सृजित कर दिया गया, जिसमें वह निरीह है और अपने को असहाय महसूस करता है।' और लूसिका सोचती है, 'हर चीज का एक निश्चित भुगतान तय है।' यह अस्तित्ववादी धारणा का ही तर्जुमा है। अस्तित्व दर्शन यहाँ कलात्मक रचाव के रूप में प्रतिफलित नहीं हो पाया है।

इस उपन्यास की मुद्रा कुछेक स्थितियों को उठाने भर की है। ये स्थितियाँ किसी बड़ी मानवीय स्थिति से रिश्ता नहीं जोड़ सकीं। ये स्थितियाँ अस्तित्व और नियति से धारणात्मक सतह पर ही अपना सरोकार जता सकी हैं, किसी बड़ी मानवीय स्थिति से इनका रिश्ता नहीं जुड़ पाया। लेखक ने विसंगतियों-भरे, जटिल और 'एब्सर्ड' अनुभव को सम्प्रेषित करना चाहा है—पर इस अनुभव के समानान्तर भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग वह नहीं कर पाया है।

यथार्थ के बिम्ब और औपन्यासिक रचनाशीलता के तकाज़े

आखिर वह कौन सा बिन्दु है जिस पर कोई कृति हमें छू जाती है और क्या छू जाने वाला और अभिभूत कर जाने वाला बिन्दु वह कोण बन सकता है जिस से हम कृति को देख परख कर पूरा का पूरा पा सकें? लगता है कि मात्र प्रभाव बिन्दु पर निर्भर कोण या प्रभावाग्रही दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन रचना की कलात्मक सफलता या असफलता की पहचान नहीं करा सकता। ऐसा मूल्यांकन-कोण वस्तुपरक न होने से रचना के भीतरी अभिप्रायों और अर्थ-संकेतों को समझने और पकड़ पाने की सामर्थ्य को कमज़ोर बनाता है। औपन्यासिक कृति में यह खतरा सबसे अधिक रहता है क्योंकि उपन्यास का 'संसार' अपनी प्रकृति में संकुल और जटिल होता है और उसकी कई एक तहें होती हैं। इस वजह से उसके भीतरी आशय या मूल संवेदना तक पहुँच पाना खासा कठिन है। यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है अगर उपन्यास किसी अंचल-विशेष के समसामयिक जीवन के यथार्थ को आकलित करने वाला हो। रामदरश मिश्र के उपन्यास जल टूटता हुआ में यह कठिनाई सबसे पहले सामने आती है। आंचलिक स्वभाव और अभिरुचि वाले इस उपन्यास पर कहाँ से और किस कोण से बात शुरू की जाय? आंचलिकता इस उपन्यास के विवेचन का एक सुविधाजनक आधार बन सकती है, पर इस सुविधापरक रास्ते को अपनाने से उस यथार्थ की शायद खरोंच-भर ही मिल सके जो इसमें अभिव्यक्त है। इस उपन्यास का 'गाँव' विकट और सर्वग्रासी यथार्थ की लपेट में है और मानव-स्थितियों की विभीषिकाओं का आभास देने वाला है।

इस उपन्यास के सन्दर्भ में यथार्थ की औपन्यासिक बुनावट से बात शुरू करना ज्यादा सही होगा। उपन्यास के पहले अध्याय को ही लें। इसमें लेखक ने मास्टर सुगन के जरिये स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के स्वप्नों और स्वप्न-भंग की स्थितियों की ओर संकेत किया है। मास्टर के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति रंगीन भोर के समान डहडहा उठने वाली कल्पना थी। उसे लगा था एक बड़ी चट्टान जैसे सर से उठ गयी। आकाश में अंधकार उगलते हुए बड़े-बड़े बादलों के पहाड़ जैसे पिघल कर बह गये। आज भी मास्टर का वह सपना हारा भले न हो, पर अब अभावों से जर्जरित उसका मन सपनों का तार जोड़ नहीं पाता। कीचड़ की आशंका ने सारे तारों को छिन्न भिन्न करके बिखेर दिया था। लेखक ने बड़े कलात्मक संयम से मास्टर सुगन की मानसिकता को उभारा है और आर्थिक अभावों के शिकंजे में जकड़े हुए व्यक्ति की मूल्यगत पकड़ के ढीला होने को सूचित किया है। और फिर मास्टर 'गीनवा' के विवाह की सोचता है और सपने में खो जाता है। तभी 'हवा बह गयी, ज़ोर से धान के बिरवे कुनमुना उठे, जैसे कोमल स्पर्श से किसी बछड़े के रोयें। मास्टर सपने में डूब थे। एक चील बड़े जोर से टें करके ऊपर से उड़ गयी। उसके पंजे में एक मछली छटपटा रही थी। यह सारा चमत्कार कथन नहीं है बल्कि एक ऐसा बिम्ब है जो गहरी अर्थ-व्यंजना लिए हुए है और उपन्यास के मूल आशय का गहरा रहा है। लगता है उसके भयाक्रान्त मन का यह बिम्ब (चील के पंजे में छटपटाती मछली) भीतर से उछल कर बाहर प्रक्षेपित हो गया हो। तभी एकाएक उनके ध्यान में महीपसिंह मास्टर भटक जाते हैं और उसे लगता है जैसे बाबू महीपसिंह की भारी-भरकम देह यहाँ से वहाँ तक पसर गयी है। और वह अपने भारी भरकम बोझ के नीचे जमीन को मारे डब को दबोचे हुए है। ये सभी बिम्ब व्यक्ति के भीतर की मशाल-मनमथित प्रक्रिया को ही उद्घाटित नहीं करते बल्कि उपन्यास के आन्तरिक अभिप्राय से अन्तर्वर्ती सूत्र के समान जुड़े हुए हैं। स्वातन्त्र्य-स्वप्न के टूटने का एहसास, डरे हुए आदमी की मनःस्थिति, चील का टें करके उड़ना और उसके पंजे में मछली का छटपटाना और फिर महीपसिंह का क्रूर शोषक रूप—बिम्बों का यह क्रम आन्तरिक, कलात्मक और संकेतात्मक है। ये बिम्ब केवल कुछेक स्थितियों के बिम्ब न होकर उपन्यास में एक वृहत्तर अर्थ-सन्दर्भ की अनुगूंज छोड़ जाते हैं और औपन्यासिक कलेवर में सार्थक और चरितार्थ होते हैं।

इस उपन्यास में परिस्थितियों का घटाटोप है। एक के बाद दूसरी और एक-दूसरे को काटती-पीटती, बनाती-ढहाती परिस्थितियाँ हैं। कभी बाढ़ का प्रकोप, कभी सर्प-दंश, कभी महामारी और कभी चकबन्दी की मुसीबत। भूख तो गाँव में सर्वत्र व्याप्त है। बदमी का यह सोचना कितना साभिप्राय है—'यह पहरा किसे जगा रहा है। सभी घरों में भूख लोट रही है। भूख की चोरी करने कौन आएगा।' और तिस पर गुंडागर्दी—एक-दूसरे की जमीन हड़पने और साफ करने के षड्यन्त्र।

मतलब यह कि गाव की जिन्दगी यातना का न खत्म होने वाला सिलसिला बन जाती है। इस सिलसिले के अपरिहार्य अंग बने हैं इस उपन्यास के प्रेम-प्रसंग। कुजू-बदमी और मास्टर-शारदा के प्रेम प्रसंगों ने उपन्यास में बहुत जगह घेरी है। पर, ये प्रसंग उपन्यास में अनावश्यक रूप से विन्यस्त नहीं है। इन से गाव की जिन्दगी का एक और पक्ष सामने आता है—यातना का एक भावनात्मक छोर। ये प्रेम-प्रसंग गाव में औरत की जिंदगी की घुटन, विवशता और वेदना को झलका देते हैं, बावजूद रोमांटिक और भावुक अदाओं के।

परिस्थितियों और प्रसंगों का ताना-बाना इस उपन्यास में ऐसा है कि उस में बनते बिगड़ते सम्बन्धों का और मन स्थितियों के तनाव, विरोध, विसंगति और विडम्बना का बोध हो जाता है। लेखक ने परिस्थितियों या घटनाओं का नियोजन इस ढग से किया है कि प्रसंग और पात्रो के किया-कलाप बिलकुल नये रूप में दीप्त हो उठते हैं। पचायत के चुनाव और चकबन्दी आदि ऐसी घटनायें हैं जो सबको के तमाम सूत्रो को उलझा देती हैं। एक दूसरे की पोल खोलने के प्रयास में हर किसी की पोल खुल जाती है। भूपेन्द्र लाल के एम० सी० ओ० बन कर आने से कई चेहरे बदलाव होते हैं और कइयों की विकृतियां सामने आती हैं। मनजान राय के आने से सम्बन्धों के नए सन्दर्भ बनते हैं और उस उद्घाटन की साजिशें भी चलती हैं। इस प्रकार की घटनाओं और प्रसंगों का अम्बार इस उपन्यास में लगा हुआ है। आधुनिक उपन्यासों की तरह उसमें ऐसा बिखराव नहीं है कि घटनाओं में कोई सबध-सूत्रता ही न हो या घटनाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष हों। यहा घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी बधी हैं और यथार्थ की तल्खी को सामने लाती हैं।

यह समूचे गाव का यथार्थ है। वर्ग चेतना के बावजूद, यह यथार्थ सुनिश्चित और व्यवस्थित वर्ग धारणाओं से प्रेरित नहीं है। पर एक बात अवश्य खटकती है कि *इस उपन्यास में वर्णन की पुरानी यथार्थवादी पद्धति को अपनाया गया है।* उदाहरण के तौर पर इस प्रसंग को देखिए

'बीस भर चादी की हँसुली के लिए चौधरी ने सिर्फ पाच रुपये दिये हैं, कैसा बेईमान है यह।'

और सतीश मानो दिवा-स्वप्न में खो गया—चौधरी की वीभत्स आकृति उस की आखों के सामने खड़ी हो गई। सतीश ने बढ़कर उसके पेट पर लात मारी और हुंकार उठा 'कमीने, तू अभी भी जिन्दा है, आज़ादी मिलने के बाद भी।' चौधरी पेट पर हाथ फेरता हुआ हँसा—'मारो और मारो। यह पेट तो तुम्हारा ही है, तुम्हारे गहनों से भरा हुआ है, यह चोट मुझे नहीं तुम्हारे गहनों को लग रही है। आज़ादी से क्या होता-जाता है। मैं अपनी जगह पर बदस्तूर कायम हूँ और मुझे ही क्यों देखते हो, तुम्हारे नेताओं में भी तरह-तरह के चौधरी निकल आए हैं।'

वैषम्यपूर्ण स्थितियों के चित्रण और वर्णन का यह मुहावरा, निस्सदेह, यथार्थवादी ढंग का है। भाषा का रचाव और शैली भी कुछ इस ढंग की है कि यह मुहावरा ज़रूरत से ज्यादा मुखर प्रतीत होता है। वर्णन की यथार्थवादी रूढ़ि को काटने के लिए व्यंग्य और कटाक्ष काफी सहायक हो सकते हैं। पर, इन औज़ारों का कोई पैना प्रयोग इस कृति मे नहीं हो सका है।

इस उपन्यास मे लेखकीय दृष्टि भयावह और क्रूर स्थितियों के यथार्थ को एक मूल्य-सन्दर्भ देने की रही है। इस के लिए सतीश को माध्यम बनाया गया है। वह गाव की सीमाओं से लड़ता है और आदर्श गाव का स्वप्न देखता है। घिनौनी यथास्थिति को तोड़ने का उसमे अपूर्व और सात्विक उत्साह और साहस है। कजू के यह कहने पर, 'लगता है गरीबों का कोई नहीं है,—कल भी नहीं था, आज भी नहीं है। ये गन्दे जानवर कल भी राज करते थे, आज भी राज करने के लिए हाथ-पाव मार रहे हैं, इनके मुह खून लगा है न आदमी का', प्रत्युत्तर मे सतीश ओज और उत्साह की वाणी बोलता है 'हा, लेकिन अब इन्हे बरदाश्त नहीं किया जायगा। इन का राज बदलना ही होगा। इसीलिए तो पचायत-राज की व्यवस्था हो रही है। किसी भी कीमत पर इन्हे रोकना होगा मैदान मे आने से। य खलबलाए हुए हैं। जब शकर का ताडव-नृत्य होता है तब राक्षस खलबला उठते है। आज शकर का ताडव-नृत्य हो रहा है, सत्य उघड कर सामने आ रहा है, ये राक्षस खलबलाए हुए हैं, इन्हे रोकना होगा······रोकना होगा ·····।'

क्या इस प्रकार की आवेशपूर्ण वाणी उपन्यास को किसी मूल्य स्तर से जोड़ पाती है ? उपन्यास मे जो बदले हुए जीवन-सन्दर्भ और अस्तित्व मे जूझने वाली स्थितियाँ है, उन्हे देखते हुए सतीश का इस प्रकार का सोचने का रुख एक भावुक प्रतिक्रिया मे अधिक अहमियत नहीं रखता। बद्धमूल भावुक धारणाओं के आधार पर स्थितियों को मूल्य-स्तर पर सक्रान्त नहीं किया जा सकता। दरअसल, गाधी का गाव का सपना सतीश के अवचेतन म अटा पड़ा है। यह उसकी मनोवैज्ञानिक 'फिक्सेशन' या 'आर्क टाइप' बन चुका है। बदली हुई स्थितियाँ उसके सामने हैं और वह उनके बीच से गुजरता भी है। उसे साफ महसूस होना भी है कि 'सत्य तो बुरी तरह से मर रहा है, और सामूहिकता-खड-खंड मे बँट कर इकाइयों म छटपटा रही है', तो भी गाधी की गाव की परिकल्पना उस की बद्धमूल ग्रथि बनी हुई है, तभी तो वह जग्गू से कहता है—'मैं तो जो भोग रहा हू वह भोग ही रहा हू लेकिन चिन्ता इस बात की है कि गाव का क्या होगा ? क्या इसी गाव की कल्पना गाधीजी ने की थी ?' ···आगे वह फिर कहता है, 'आज़ादी मिले इतने साल हो गये, लेकिन गाधी का सपना कहा पूरा हुआ ?' इन धारणाओं की पूरे उपन्यास के 'टेम्पर' से कोई सगति बैठती प्रतीत नहीं होती। उपन्यास के अन्त मे सतीश के भाई चन्द्रकान्त का आई० ए० एस० बन कर आने का प्रसग नितान्त अप्रासगिक लगता है। उपन्यास

अपने पूरे रचाव, आन्तरिक तर्क-संगति ग्रौर रचनाशीलता के आधार पर एक ट्रेजेडी बन रहा था, पर लेखक ने उस पर, एक प्रभामंडल ग्रौर सुखद अन्त उढा दिया जिस से लेखकीय दृष्टि ग्रौर रचना-दृष्टि के बीच द्वंद्व की स्थिति पैदा हो गयी।

लेखकीय दृष्टि ग्रौर रचनाशीलता के इस द्वंद्व के बावजूद, यह उपन्यास गाँव के समसामयिक जीवन की यथार्थ, क्रूर स्थितियों ग्रौर यातनाग्रों की सच्ची ग्रौर प्रामाणिक तस्वीर पेश करता है। यह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के गाँव-जीवन का अनुभूत यथार्थ बिम्ब है जो ग्रौपन्यासिक रचनाशीलता के तकाजा से जूझता हुग्रा अपनी सीमा ग्रौर विशिष्टता के स्तरों को खोलता चलता है।



मुक्तिबोध की
समीक्षा-दृष्टि

मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि

मुक्तिबोध का व्यक्तित्व, साहित्य और साहित्य-समीक्षा एक दूसरे से गहरे में अन्तःसम्बन्धित और सम्पृक्त हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि उनके कृति-व्यक्तित्व ने साहित्य-समीक्षा में और उनके समीक्षक व्यक्तित्व ने साहित्य-क्षेत्र में अवैध प्रवेश किया हो या अवांछनीय दखल दिया हो। पर, ऐसा भ्रम निर्मूल ही है क्योंकि ऐसा कहने के लिए कोई समुचित आधार नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी समीक्षाएं, मूल रूप में, एक कवि की, रचनाकार की समीक्षाएं हैं जिसने अपने व्यक्तित्व में बाह्य यथार्थ की अभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया का घटित होना देखा है और सृजन-प्रक्रिया की राह पर चलते हुए हर मोड़ को देखा, समझा और परखा है। अपने काव्य-जीवन की यात्रा में उन्हें जो चिन्तन करना पड़ा है, उसी से उनकी समीक्षाएं अनुप्रेरित हैं। यही कारण है कि यहां साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों और प्रश्नों का जड़ीभूत शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण नहीं है। उनका समीक्षक-व्यक्तित्व, रचनाकार-व्यक्तित्व से अलगाया नहीं जा सकता। ये दोनों, उनके व्यक्तित्व में, सृजनात्मक स्तर पर, एक-दूसरे से सहज रूप से जुड़े हुए हैं। ये एक-दूसरे को प्रभावित ही नहीं, अनुस्पन्दित और रूपान्तरित भी करते हैं। पर, इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि उनकी समीक्षा-दृष्टि कवि-कर्म की उपज है। उनकी समीक्षाओं के (और कविताओं के भी) पीछे स्रष्टा के साथ-साथ एक प्रौढ़ और प्रबुद्ध चिन्तक भी बैठा है जो जीवनानुभूतियों की प्रखर और निर्मम व्याख्या और मीमांसा करता चलता है। उनकी समीक्षाएं, निश्चय ही, एक पुष्ट, वैज्ञानिक

आधार लिए हुए है। 'संवेदना' और 'ज्ञान', 'कविता' और 'जीवन-समीक्षा' या जीवन-मूल्यांकन, उनके तईं अलग अलग 'खानें' नहीं हैं। समीक्षा में (और कविता में भी) संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना पर उनके जोर देने का यही मुख्य कारण है।

युवा मुक्तिबोध ने मार्क्स दर्शन का गहन अध्ययन और मनन किया था। इस दर्शन ने उनकी जीवन-जगत सम्बन्धी धारणाओं को निर्धारित और सुनिश्चित किया था। उनके कवि-मानस पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था। पर, जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता जैसे जैसे उनके सामने प्रत्यक्ष होती गई, मार्क्स-दर्शन से पैदा हुई वैचारिक जकड़न ढीली होती गई। उनकी दृष्टि इस दर्शन की एकांगिता और सीमा को पहचान पाने में उत्तरोत्तर समर्थ हुई। इस 'पहचान' के बाद वे इस दर्शन के प्रभाव-बिम्ब से बाहर जाने की बराबर कोशिश करते रहे। इस कोशिश में वे कुछ हद तक सफल हुए भी, पर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों और विचारों ने उनके दिल-दिमाग में जो 'कन्डीशनिंग' पैदा कर दी थी, उसकी जड़ें बहुत गहरी थीं और जूझने के बावजूद, वे उससे उबर न पाए थे। उन्होंने सही मायने में खुद से लड़ाई की थी, आत्मसंघर्ष किया था। इस 'लड़ाई' या 'संघर्ष' को एक साथ दो स्तरों पर देखा जा सकता है : रचना-स्तर पर और विचार-स्तर पर। इस आत्म-संघर्ष ने ही उन्हें अपने समूचे व्यक्तित्व (कृति और निजी) को शोधने की दिशा में प्रवृत्त किया। इस शोधन-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, उनकी मार्क्सीय-सामाजिक दृष्टि का संस्कार हो सका और वह अपेक्षया अधिक व्यापक, सहज और साहित्यिक सन्दर्भ में सार्थक हो सकी। अतः साहित्य-समीक्षा के मूलाधार के रूप में सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं पर उनका बल देना कोरा 'एकेडेमिक' नहीं है, सिर्फ 'मार्क्सीय' नहीं है। उनकी समीक्षाओं में उनका सम्पूर्ण, द्वन्द्वपूर्ण व्यक्तित्व 'इन्वाल्वड' है। उन्होंने साहित्य की विशिष्ट प्रकृति और उसकी सृजनशील प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक और आर्थिक भूमिकाओं का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न कितना प्रामाणिक और वस्तुपरक है, यह एक अलग प्रश्न है।

मुक्तिबोध ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाएँ लिखी हैं। उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह 'आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में १३ निबन्ध हैं जिनमें से अधिकांश सैद्धान्तिक विषयों पर हैं जैसे··· 'काव्य की रचना प्रक्रिया'; 'सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि', 'नवीन समीक्षा का आधार', 'साहित्य और जिज्ञासा', 'अन्तरात्मा और पक्षधरता', और 'समीक्षा की समस्याएँ' आदि। इस संग्रह में कई निबन्ध ऐसे हैं जिनमें नयी काव्य प्रवृत्तियों के संदर्भ में कतिपय महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्न उठाए गए हैं और उनका सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। कुछ निबन्ध इसमें ऐसे भी हैं जिनसे उनकी व्यावहारिक समीक्षा-दृष्टि का

पता चलता है, जैसे "'शमशेर मेरी दृष्टि में' और 'सुमित्रानन्दन पन्त : एक विश्लेषण।' उनकी व्यावहारिक समीक्षा का मेरुदण्ड तो उन का ग्रन्थ, **कामायनी : एक पुनर्विचार**, ही है जिसमे फैंटेसी की दृष्टि से 'कामायनी' पर विचार किया गया है। साहित्य-सम्बन्धी ऐसे ही बुनियादी प्रश्न उठाए गए हैं डायरी विधा के अनौपचारिक सहज माध्यम से उनकी पुस्तक, **एक साहित्यिक की डायरी** मे। इन तीनों पुस्तकों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेख योग्य है कि इन तीनों मे मान्यताओं, स्थापनाओं और मूल विचारों के धरातल पर कोई विरोध, विरोधाभास या असंगति नहीं है। इनमे एक मूलभूत केन्द्रीय-दृष्टि लक्षित की जा सकती है जिसके 'फोकस' मे वे हर साहित्य-विषय को देखते हैं। इससे विवेचन विश्लेषण मे जडता या एक-जैसा-पन आ जाने का खतरा रहता है, पर समीक्ष्य विषयों को विभिन्न कोणों से और विविध आयामों मे प्रस्तुत करने मे मुक्तिबोध को कोई कठिनाई नहीं हुई है।

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि का यह केन्द्र क्या है? निश्चय ही यह केन्द्र—वास्तविक जीवन-जगत् और उसके तथ्यों और अनुभवों से बना है। जीवन-जगत् के विविध और व्यापक जीवनानुभवों को वे समीक्षा के आधार रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका मत है 'साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन म तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होने वाले ज्ञान और संवेदन और संवेदन ज्ञान मे ही है।' (**आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ९८**)। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति के अभाव मे, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा-शक्ति थोथी होती है (वही, पृष्ठ ९९)। वास्तविक जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान को वे साहित्य-समीक्षा की मूल दृष्टि या मूल्य के रूप मे इसलिए भी स्वीकार करते है कि वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान, न केवल लेखक और समीक्षक म होता है, वरन् पाठक मे भी होता है (वही)। वे जीवन-सत्य को ही सिद्धान्तों का नियामक मानते हैं। वास्तविक जीवन म पाए जाने वाले तत्वों का वे साहित्य मे प्रकट तत्व की सत्यता की जाच की कसौटी मानते हैं। संक्षेप मे कहें तो वे जीवन-मूल्य और कलात्मक साहित्यिक मूल्य मे आवयविक सम्बन्ध मानते है। जाहिर है कि उनकी समीक्षा-दृष्टि वास्तविकता और वास्तविक जीवन के व्यापक और विविध जीवनानुभवों, जीवन-मूल्यों, आन्दोलनों, आकांक्षाओं और आदर्शों की वृहत्तर पीठिका पर खडी है। इस समीक्षा-दृष्टि को जीवन सापेक्ष, मूल्य-सम्पृक्त और समाज-प्रतिबद्ध दृष्टि कहा जा सकता है। कहना चाहें तो इसे प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि से प्रभावित समीक्षा-दृष्टि कह सकते हैं। पर, मुक्तिबोध ने इस समीक्षा-दृष्टि को एक सर्वथा नया आयाम और मौलिक संस्कार देने की चेष्टा की है : इसे कवि-व्यक्तित्व, सृजन प्रक्रिया और मनोविश्लेषण से जोड कर। इस प्रकार मुक्तिबोध ने अपनी समीक्षा को नितान्त भिन्न रूप मे विकसित किया है। सवाल हो सकता है कि क्या साहित्यालोचन की यह दृष्टि उपयुक्त और प्रामाणिक कही जा सकती

है ? यों तो स्वयं मुक्तिबोध भी 'केवल एक ही कसौटी से साहित्य को नापना उचित नहीं समझते (एक साहित्यिक की डायरी) । वे अपनी समीक्षा दृष्टि की सीमा से भी भली-भाँति परिचित हैं और यह स्वीकार करते हैं कि यह दृष्टि साहित्य के साहित्यिक गुणों की परख की कसौटी हमेशा नहीं हो सकती। (एक साहित्यिक की डायरी) । पर उनके विचार में यह दृष्टि चूंकि साहित्यालोचन को एक नयी दिशा सुझाती है अतः 'साहित्य से उस का तकाजा करना गलत नहीं है।' साहित्य को सामाजिक दृष्टि से विवेचित करना गलत नहीं कहा जा सकता—इससे नूतन सम्भावना के आयाम खुल सकते हैं, पर इसे साहित्य समीक्षा-दृष्टि के रूप में प्रतिपादित किये जाने पर अवश्य एतराज किया जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक सदर्भों पर ध्यान देने से साहित्यालोचन में सहायता तो मिलती है पर उसे कलाकृति के कलात्मक मूल्य की परख का मानदण्ड नहीं ठहराया जा सकता। साहित्य का मानदण्ड तो साहित्यिक-कलात्मक-सौन्दर्यात्मक ही हो सकता है। सामाजिक-आर्थिक संदर्भ और वास्तविक जीवन के तथ्य और अनुभव तो उस निष्कर्ष की पूर्व-स्थितियों के रूप में मौजूद रह सकते हैं। किसी कलाकृति के विवेचन मूल्यांकन में उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, पर उन्हें अन्तिम कसौटी के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि का यह केन्द्रीय तत्व, उन की रचना दृष्टि और कवि-कर्म-सम्बन्धी धारणाओं से पर्याप्त प्रभावित है। उनके अनुसार कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन जगत् को प्रकट करता है। उनका विचार है, 'काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। काव्य रचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानने के मूल में उनका तर्क यह है कि 'उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज की या वर्ग की देन हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि काव्य रचना के पीछे सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव-संस्कार रहते हैं और कवि के व्यक्तित्व के मूल स्वभाव के अनुरूप और सृजन प्रक्रिया के दौरान ये प्रभाव-संस्कार बारम्बार बदल जाते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक सन्दर्भ रचनाकार की मनोभूमिका निर्मित कर सकते हैं, रचना के प्रेरक तत्व बन जाते हैं, रचना प्रक्रिया में भी सक्रिय रह जाते हैं, पर इन सबमें काव्य रचना 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' सिद्ध नहीं की जा सकती। इस सारे व्यापार में कृति-व्यक्तित्व और कलात्मक तत्वों का एक बहुत बड़ा रोल होता है। इस 'रोल' के महत्त्व को मुक्तिबोध न जानते हों, ऐसी बात नहीं। उन्होंने इस बात को रेखांकित भी किया है यह कहकर कि काव्य रचना एक आत्मिक प्रयास है। कला के तीन क्षणों का जिस रूप में उन्होंने उद्घाटन किया है वह भी इस बात की गवाही देता है कि काव्य-रचना, अपने मूल रूप में आत्मिक और वैयक्तिक प्रक्रिया है—सांस्कृतिक तत्व भले ही इस सबमें सहायक हों या न्यूनाधिक रूप में सहायता पहुँचाते हों।

वैचारिक दृष्टि से मुक्तिबोध मानव-वास्तविकता और समाज के प्रति प्रतिबद्धता के कायल हैं और इसी दृष्टि से काव्य में 'सौन्दर्य' की प्रतिष्ठा और परख करने पर बल देते हैं। दूसरी ओर, रचना स्तर पर उन्हें कलात्मक प्रतिक्रियाओं की पूरी जानकारी है, अतः वे सौन्दर्य प्रतीति का अविच्छिन्न सम्बन्ध सृजन-क्रिया के साथ जोड़ते हैं। एक ओर तो वे सामाजिक दृष्टि के बिना सौन्दर्य प्रतीति असम्भव मानते हैं। (आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध) तो दूसरी ओर उनकी धारणा है कि सृजन प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य प्रतीति असम्भव हो जाती है (एक साहित्यिक की डायरी)। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो उनके विचार से सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्य प्रतीति में गुणात्मक रीति से कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने एक ओर तो सौन्दर्य प्रतीति को सामाजिक दृष्टि से सम्बद्ध किया है तो दूसरी ओर सृजन प्रक्रिया से। ऐसा करके उन्होंने सौन्दर्य प्रतीति को तो गहरे स्तरों पर उठाया ही है सामाजिक दृष्टि को भी गहरी अर्थवत्ता से संयुक्त किया है। पर यह बात अवश्य खटकती है कि उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को कलाकृति की ज़मीन से उभरे कलात्मक या सौन्दर्यात्मक तत्वों के सन्दर्भ में नहीं उठाया। तो क्या वे कलाकृति के रचनात्मक सौन्दर्य को महत्त्व नहीं देते? इस सम्बन्ध में उनके अपने शब्द ही प्रमाण माने जा सकते हैं—'पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम काम है कि वह कलात्मक सौन्दर्य का आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। रचनात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुज़र कर ही कृति के मर्म क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। स्पष्ट है कि मुक्तिबोध कलाकृति के कलात्मक महत्त्व को स्वीकार तो करते हैं—पर मानते उसे प्रवेशद्वार ही हैं, कृति का अन्तवर्ती तत्त्व नहीं। अन्तवर्ती तत्त्व तो उनकी दृष्टि में जीवन ही है सौन्दर्य नहीं।

सैद्धान्तिक और तात्त्विक विवेचना के साथ साथ मुक्तिबोध ने अपने समय की समीक्षा-शैलियों और दृष्टियों की भी गम्भीर मीमांसा की है। इनके मूल्य, महत्त्व और सीमा को उन्होंने अपनी समीक्षा दृष्टि के केन्द्र में रखकर आँका है। ऐसा उन्होंने नयी काव्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में किया है। प्रगतिवादी समीक्षा और समीक्षकों की उन्होंने अच्छी खबर ली है। वे यह मानते हैं कि, आज किसी भी व्यवस्थाबद्ध जैसी विचारधारा का समाज में प्रभाव नहीं—'इतना व्यापक, सर्वांगीण और सघन प्रभाव नहीं कि लेखक सामाजिक वातावरण में से उसे खींच कर आत्मगत कर सके।' इस मूल आधार को ग्रहण कर, वे प्रगतिवादी और आदर्शवादी समालोचकों पर आरोप लगाते हैं कि ये बनते हुए साहित्य की जीवनभूमि से असम्पृक्त रहकर साहित्याभिव्यक्ति जीवन और साहित्य-सृजन की वास्तविक मानवभूमि, इन दोनों के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के रूप का—इन दोनों के अपने अपने विशिष्ट स्वरूप का आकलन न करते हुए, या छिछली सतही दृष्टि से उनका आकलन करते हुए न्याय निर्णय प्रदान करते हैं। वास्तविक और विविध नवीन साहित्य-कृतियों का मार्मिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना उन्हें अभीष्ट नहीं।' मुक्तिबोध का यह विवेचन सटीक है और उनकी गहन

सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने प्रगतिवाद की भीतरी न्यूनताओं को उघाड़कर सामने रखा है पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने नयी कविता के समीक्षा सिद्धान्तों और दृष्टियों की वकालत की है। अपनी मौलिक समीक्षा-दृष्टि द्वारा उन्होंने नयी कविता की मूल प्रकृति को समझने और उसका विवेचन करने का प्रयास किया है पर नयी कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और मूल्यांकन के सिद्धान्तों का उन्होंने तीव्र और जबरदस्त विरोध भी किया है। नयी कविता के निर्विकल्पक सौन्दर्य-सिद्धांत व्यक्ति-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त, लघु मानव के सिद्धान्त और तथाकथित आधुनिक भावबोध का उन्होंने आवेशपूर्ण खण्डन किया है। इस विरोध और खण्डन के पीछे उनकी समाज प्रतिबद्ध मूल्य सम्पृक्त दृष्टि काम कर रही है। इस दृष्टि से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। आधुनिक बोध के सम्बन्ध में उनकी इस धारणा, जो इस दृष्टि से प्रभावित है, को मान्यता नहीं दी जा सकती "अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करना आधुनिक भावबोध है। आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा वर्तमान स्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना करें।' यह मान्यता आधुनिक भावबोध की पहचान नहीं कराती। इसमें निरा प्रगतिवादी आवेश है।

मुक्तिबोध ने काव्य की सृजन प्रक्रिया का एक रचनाकार की हैसियत से विवेचन करने की कोशिश की है। उनके अनुसार कला के तीन क्षण होते हैं— 'पहला है जीवन का उत्कट अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैन्टसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैन्टसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।' मुक्तिबोध की मान्यता है कि शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। मुक्तिबोध ने सृजन प्रक्रिया के दौरान तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं—काव्य फैन्टेसी का प्रश्न, भाषा का प्रश्न, सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रश्न। मुक्तिबोध ने फैन्टसी के प्रश्न को काव्य सृजन-प्रक्रिया के बुनियादी महत्त्व के प्रश्न के रूप में उठाया है और यहीं से अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टिपात किया है। फैन्टेसी का जैसा विवेचन उन्होंने किया है वह अत्यन्त गहन और तात्त्विक है। ऐसा लगता है मुक्तिबोध ने कविता के भीतरी तत्वों के पारस्परिक सघात और प्रक्रिया द्वारा फैन्टेसी के स्वरूप की मौलिक परिकल्पना की है, पर, जहाँ वे उसका सम्बन्ध साहित्य-रचना के सामाजिक सन्दर्भों से जोड़कर, फैन्टसी के आधार पर किसी कृति की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, वहाँ उनकी दृष्टि में पूर्वाग्रह हावी हो जाते हैं। उनकी पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के सन्दर्भ में इसे देखा

जा सकता है। रचना-प्रक्रिया के दौरान फैन्टेसी कैसे जन्मती और विकसित होती है—उसकी निर्माण-प्रक्रिया मे रचनाकार का रचना-व्यक्तित्व, रचना-बाह्य व्यक्तित्व, बाह्य परिवेश, जीवन के तथ्यो और अनुभवो का क्या योगदान रहता है—इसे समझा जा सकता है 'कामायनी' की उनकी व्याख्या-विश्लेषण और मूल्याकन दृष्टि से परिचित होकर। वे 'कामायनी' की कथा को फैन्टेसी मानते है। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार एक फैन्टेसी मे मन की निगूढ वृत्तियो का, अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित जीवन-स्थितियो का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार 'कामायनी' मे भी हुआ है

कामायनी की फैन्टेसी का स्वरूप क्या है ? वह मानव समस्या के साथ किस रूप मे सम्बद्ध है ? प्रसाद के व्यक्तित्व के किन मूलभूत अन्तर्तत्वों से वह प्रेरित है, उसकी रूप-रचना और उसकी समग्र गहन सवेदना पात्रों के जरिए किस रूप मे (कलात्मक-अकलात्मक) अभिव्यक्त हुई है—इन सब प्रश्नो पर उन्होने विचार किया है। पर, लगता है इन प्रश्नो पर उनकी दृष्टि, पूर्वाग्रहो से मुक्त नही है। यह दृष्टि, मूलत मार्क्सवादी चेतना के प्रभाव के परिणामस्वरूप बनी है। इस 'चेतना के' कारण उनके कुछ 'आग्रह' हैं जिनसे उनका मूल्याकनशील मन ग्रसित है। इन आग्रहो की गिरफ्त मे पडकर वे यदि 'कामायनी' मे फैन्टेसी जैसे कला-तत्व या सौन्दर्य-तत्व का विश्लेषण करते-करते, समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी सूत्रो की व्याख्याओं म उलझ गए तो कोई आश्चर्य नही।

मुक्तिबोध ने, निस्सन्देह, सृजन प्रक्रिया और उसके दौरान उपलब्ध फैन्टेसी जैसे सौन्दर्य-तत्वो का मौलिक और प्रामाणिक निरूपण किया है। यह जरूर है कि कुछेक स्थलो पर उनके निष्कर्ष उनके विवेचनो के सहज परिणाम प्रतीत नही होते। उनकी समीक्षा-दृष्टि का यह एक बुनियादी द्वन्द्व है जिसे उनकी समीक्षाओं मे अनेक स्तरो पर देखा जा सकता है।

●